ISSN : 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का
समीक्षित जर्नल

वर्ष 19 | अंक 1 | जून 2021

www.mpissr.org

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

संरक्षक

प्रोफेसर गोपालकृष्ण शर्मा

सम्पादक

प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक

डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

सलाहकार मण्डल

प्रोफेसर अनिल कुमार वर्मा
समाज एवं राजनीति अध्ययन केन्द्र, कानपुर (उ.प्र.)

प्रोफेसर संजय लोढ़ा
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

प्रोफेसर मणीन्द्रनाथ ठाकुर
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर डी.एम. दिवाकर
ए.एन. सिन्हा समाज विज्ञान संस्थान, पटना (बिहार)

प्रोफेसर बदरीनारायण
गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज (उ.प्र.)

प्रोफेसर सन्दीप जोशी
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (म.प्र.)

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

वर्ष 19 जून 2021 अंक 1

सम्पादक
प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक
डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान
(भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार
एवं उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन का स्वायत्त शोध संस्थान)
6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र
उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश)

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा प्रकाशित ***मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल*** अन्तर्विषयक प्रकृति का अर्द्धवार्षिक जर्नल है। जर्नल के प्रकाशन का उद्देश्य समाज विज्ञानों में अध्ययन एवं अनुसन्धान को बढ़ावा देना तथा समसामयिक विषयों पर लेखकों एवं शोधार्थियों को लेखन एवं सन्दर्भ हेतु समुचित अवसर प्रदान करना है।

समाज विज्ञानियों एवं शोधार्थियों से भारतीय एवं क्षेत्रीय सन्दर्भों पर सम-सामयिक विषयों यथा - सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, विकासात्मक, प्रशासनिक मुद्दों, समस्याओं एवं प्रक्रियाओं पर शोधपरक आलेख, पुस्तक समीक्षा आदि आमन्त्रित हैं।

जर्नल में प्रकाशित शोध आलेखों में प्रस्तुत किये गये तथा व्यक्त किये गये विचार और टिप्पणियाँ सन्दर्भित लेखकों की हैं। इन्हें सम्पादक अथवा संस्थान के विचारों के प्रतिनिधित्व के रूप में नहीं लिया जाना चाहिये।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक		**प्रति अंक**	
संस्थागत	रु. 400.00	संस्थागत	रु. 200.00
व्यक्तिगत	रु. 300.00	व्यक्तिगत	रु. 150.00

जर्नल हेतु सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट/चैक द्वारा निम्न पते पर भेजें

निदेशक
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान
6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र
उज्जैन - **456010** (मध्यप्रदेश)
दूरभाष - **(0734) 2510978**, फैक्स - **(0734) 2512450**
e-mail: mpissr@yahoo.co.in, mailboxmpissr@gmail.com
web: mpissr.org

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)

वर्ष 19 जून 2021 अंक 1

डग-डग नीर वाला मालवा कैसे बना सूखा प्रदेश? 1
- रामप्रताप गुप्ता

गांधीय दर्शन : वैश्विक जगत और समतामूलक समाज की रचना में इसकी प्रमुख भूमिका 8
- डी.आर. शर्मा

भारतीय लोकतन्त्र एवं दलित प्रश्न के सन्दर्भ में डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक- राजनीतिक विचारों का विश्लेषण 18
- आकाश गौतम एवं अजय कुमार

स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों के विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के आयाम आत्मविश्वास का विश्लेषणात्मक अध्ययन 28
- स्मिता भवालकर, दीपा बैद्य एवं रेखा चोर्डिया

कृषि : भारतीय अर्थव्यवस्था में योगदान, चुनौतियाँ एवं समाधान 36
- लखन चौधरी

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की शिक्षण अधिगम में प्रासंगिकता 56
- शशि रंजन एवं शिरीष पाल सिंह

आर्थिक नीतियाँ और किसान ऋणग्रस्तता **65**
- मुकेश कुमार मीना, तापस कुमार दलपति एवं विनोद सेन

पुस्तक समीक्षा
ग्राम नियोजन **76**
(महीपाल)
- करुणेन्द्र कुमार

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 1-7)

डग-डग नीर वाला मालवा* कैसे बना सूखा प्रदेश?

रामप्रताप गुप्ता†

मध्यप्रदेश का मालवा क्षेत्र पर्याप्त जल एवं कृषि हेतु उर्वरा भूमि के कारण समृद्ध क्षेत्रों में से एक रहा है। लेकिन प्रकारान्तर में राजस्थान के इस सीमावर्ती क्षेत्र में बहुत तेजी से जलस्तर नीचे गिर रहा है जिसके कारण इसके कुछ क्षेत्रों में भूजल स्तर अप्रत्याशित ढँग से बहुत नीचे चला गया है। उक्त आलेख बदलाव के कारणों का विश्लेषण करता है।

इन्टरनेशनल वाटर मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट ने वर्ष 2017 में छपे अपने एक लेख, 'मेपिंग मल्टीपल क्लाइमेट रिलेटेड हेजार्ड्स इन साउथ एशिया' में मालवा सहित पूरे पश्चिमी मध्यप्रदेश को भारी जलाभाव वाले क्षेत्र के रूप में अर्थात् सूखे क्षेत्र के रूप में दर्शाया है। इसी प्रकार सेन्टर फॉर साइंस एण्ड इन्वायरमेन्ट ने वर्ष 2001 से 2013 की अवधि में मालवा में वर्षा, पानी की उपलब्धता आदि का अध्ययन कर इसे भी सूखे क्षेत्र में शामिल किया है। इसी सन्दर्भ में मालवा में पानी के बढ़ते अभाव के अन्य अनेक प्रमाण मिलने लगे हैं। इस क्षेत्र के प्रमुख व्यावसायिक नगर इन्दौर को अपनी प्यास बुझाने के लिए करोड़ों की लागत पर नर्मदा

*मालवा से आशय पश्चिमी मध्यप्रदेश के इन जिलों से लिया जाता है - इन्दौर, उज्जैन, शाजापुर, आगर, देवास, रतलाम, मन्दसौर और नीमच।

†भूतपूर्व आचार्य, अर्थशास्त्र, शासकीय महाविद्यालय, रामपुरा (म.प्र.)

से पानी लाना पड़ रहा है। चूंकि नर्मदा की तुलना में इन्दौर ऊँचाई पर स्थित है, अत: इन्दौर में नर्मदा के पानी को अत्यन्त शक्तिशाली पम्पों के माध्यम से ऊँचा चढ़ाया जाता है, इस हेतु प्रयुक्त बिजली के बिल को चुकाना इस प्रमुख व्यावसायिक नगर के सम्पन्न नगर निगम के लिए भी सम्भव नहीं होने से मध्यप्रदेश सरकार को कुछ वर्ष पूर्व 300 करोड़ रुपये चुकाने पड़े थे।

इस क्षेत्र के दूसरे बड़े नगर और देश के प्रमुख तीर्थों में शामिल उज्जैन की पवित्र माने जाने वाली नदी शिप्रा में वर्ष 2016 के सिंहस्थ में नर्मदा से पानी लाया गया और तब से हर पर्व, जैसे कार्तिक पूर्णिमा, सोमवती या शनीचरी अमावस्या, संक्रान्ति आदि के समय आने वाले तीर्थयात्रियों के स्नान आदि के लिए नर्मदा से पानी लाना पड़ता है। इस कार्य हेतु अधिकारियों को काफी परिश्रम करना पड़ता है। कुछ दशक पूर्व क्षेत्र के औद्योगीकरण के प्रयासों के फलस्वरूप देवास नगर में अनेक उद्योग स्थापित हुए थे, परन्तु उद्योगपतियों को नलकूपों के खनन करने पर 500-600 फुट की गहराई पर भी पानी नहीं मिलने पर अपने उद्योगों को अन्य नगरों में स्थानान्तरित करना पड़ा था।

कभी डग-डग नीर वाले मालवा क्षेत्र में इन वर्षों में पानी के बढ़ते अभाव के और भी कई प्रमाण बढ़ती संख्या में क्यों दिखाई देने लगे हैं? पहले 20-25 फुट की गहराई पर ही कुओं में पानी मिल जाता था। बरसात में तो उनका जल स्तर इतना ऊँचा हो जाता था कि कभी-कभी पानी कुओं के ऊपर बहने लगता था। अब तो बरसात में भी काफी गहराई पर ही पानी मिलता है। पहले इस क्षेत्र की न केवल सभी छोटी-बड़ी नदियों में, बल्कि नालों में भी वर्ष भर पानी बहता था। अब छोटे-छोटे नदी नालों में ही नहीं, चंबल और इसकी सहायक नदियों में ग्रीष्म ऋतु में पानी का बहाव समाप्त हो जाता है और उनमें यत्र-तत्र छोटे पोखर मात्र दिखाई देते हैं। पहले प्रत्येक सिंहस्थ में आने वाले लाखों यात्रियों के लिए पानी की व्यवस्था कोई समस्या नहीं थी, क्योंकि शिप्रा वर्ष भर बहती थी।।

सन् 1980 तक सिंहस्थ के समय शिप्रा में पानी के बहते रहने के प्रमाण मिलते हैं। सन् 2004 के सिंहस्थ के समय भी आस-पास के अन्य नदी-नालों में बाँध बनाकर पानी रोक लिया गया था और उसे सिंहस्थ के अवसर पर शिप्रा में डालकर पानी की आवश्यकता पूरी कर ली गई थी। अब तो सिंहस्थ के पर्व पर ही नहीं, हर पर्व पर नर्मदा से पानी उधार माँगना पड़ता है, धार्मिक पर्वों पर इस हेतु होने वाले करोड़ों के व्यय पर कोई प्रश्नचिह्न तो लगाया ही नहीं जा सकता।

डग-डग नीर वाले मालवा में पानी के बढ़ते अभाव की पृष्ठभूमि में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि इसके लिए कौन से कारण जिम्मेदार रहे हैं? क्या इस क्षेत्र में वर्षा की मात्रा में कमी आ गई है? इस लेखक ने अपने एक अन्य लेख में वर्ष 1961 से 2015 तक की अवधि के वर्षा के आँकड़ों का विश्लेषण करने पर पाया कि उच्चावचनों के बीच इस अवधि में वर्षा का औसत पूर्व की तरह ही 90 से.मी. रहा है (गुप्ता, 2017)। इससे पूर्व योजना आयोग के पूर्व सदस्य मिहिर शाह ने कुछ वर्षों पूर्व देवास नगर में वर्षा के आँकड़ों का

विश्लेषण करने पर पाया कि पिछले 100 वर्षों की अवधि में नगर में वर्षा के स्तर और उसकी संरचना में कोई अन्तर नहीं आया था। वर्षा के स्तर में कोई कमी न आने के बावजूद मालवा में पानी के बढ़ते अभाव के पीछे अन्य कौन से घटक जिम्मेदार हैं, इसका विश्लेषण आवश्यक हो गया है।

कारणों की तलाश हमें चम्बल नदी पर चम्बल घाटी विकास योजना के अन्तर्गत बने प्रथम और सबसे बड़े बाँध गाँधी सागर तक ले जाती है। इस बाँध में औसतन 6000 एम.सी. एम. पानी आता रहे और उसे आगे बहाकर वहाँ सिंचाई सुविधाएँ निर्मित हों, इस हेतु इसके जलग्रहण क्षेत्र अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से मालवा की नदियों और नालों के पानी के स्थानीय उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वर्षा का सारा पानी बहकर सीधे गाँधीसागर में पहुँचे, इस हेतु नये तालाबों के निर्माण पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया था।

गाँधी सागर को मालवा से प्रतिवर्ष 6000 एम.सी.एम. पानी दिया जाना हर दृष्टि से गलत था। गाँधी सागर के 22,500 वर्ग कि.मी. के जल ग्रहण क्षेत्र में वर्षा से औसतन 20,250 एम.सी.एम. पानी प्राप्त होता है। इस 20,250 एम.सी.एम. पानी में से गाँधी सागर के माध्यम से 6000 एम.सी.एम. पानी आगे प्रवाहित कर देने का अर्थ क्षेत्र की 90 से.मी. वर्षा के पानी में से 26.6 से.मी. वर्षा का पानी आगे प्रवाहित कर देना है और ऐसे में मालवा के पास अपने उपयोग के लिए 63.4 से.मी. वर्षा का पानी रह जाता है। इस अपर्याप्त पानी की पूर्ति की पृष्ठभूमि में मालवा के नदी-नालों का पानी अब वर्षा के बाद शीघ्र सूख जाता है। दूसरी ओर गाँधी सागर का प्रति वर्ष 6000 एम.सी.एम. पानी राजस्थान के तीन जिलों - कोटा, बून्दी, बाँरा - और इसका छोटा सा भाग मध्यप्रदेश के श्योपुर, भिण्ड और मुरैना को मिलता है।

राजस्थान को मिलने वाले पानी की तुलना में छोटा भाग इसलिए कह रहा हूँ कि राजस्थान चम्बल घाटी विकास योजना के द्वारा गाँधी सागर और राणा प्रताप सागर के पानी का आधा भाग राजस्थान द्वारा इन दो राज्यों के मध्य विभाजन के पूर्व ही प्रयुक्त कर लेता है (गुप्ता एवं कावड़िया, 2009)।

पानी का विभाजन तो कोटा बैरेज से उपलब्ध पानी का किया जाता है, परन्तु राजस्थान द्वारा पानी के बैरेज तक पहुँचने और विभाजन पूर्व ही रावतभाटा स्थित सात परमाणु बिजलीघरों, कोटा में छह ताप विद्युतघरों तथा रावतभाटा और कोटा की 10 लाख आबादी की पेजयल पूर्ति के लिए कर लेता है। इस तरह गाँधी सागर राजस्थान के द्वारा मालवा के पानी की लूट का माध्यम मात्र बनकर रह गया है (गुप्ता एवं कावड़िया, 2009)।

यह विडम्बना ही कही जायेगी कि परियोजना के बाद की 59 वर्ष की अवधि में से अन्तिम तीन वर्षों को छोड़कर मध्यप्रदेश ने अपने पानी की इस लूट के प्रति कभी कोई आवाज नहीं उठाई, वह अपने पानी की लूट देखता ही रहा। मध्यप्रदेश 'रोम जल रहा था और नीरो बंसी बजा रहा था' कहावत चरितार्थ कर रहा था।

मालवा से गाँधीसागर के माध्यम से 6000 एम.सी.एम. पानी आगे प्रवाहित कर देने के पश्चात् इस क्षेत्र में जहाँ औसतन 63.4 से.मी. वर्षा से प्राप्त पानी ही बचता है, वहीं

राजस्थान के कोटा, बाँरा और बून्दी जिलों को प्रदत्त 6000 एम.सी.एम. पानी का अधिकांश भाग मिल जाने से उस क्षेत्र में उनकी अपनी औसतन वर्षा के 70 से.मी. पानी से उपलब्ध पानी का स्तर करीब 100 से.मी. हो जाता है। परिणाम यह होता है कि राजस्थान को पानी देने वाले मालवा के पास केवल 63.4 से.मी. पानी बचता है जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होता है। अत: मालवा नर्मदा से पानी की भीख माँगने को बाध्य हो जाता है।

इस पृष्ठभूमि में मालवा के सतही जल स्रोतों से वंचित किसानों के लिए सिंचाई हेतु केवल भूजल स्रोत ही बचे। इधर इस क्षेत्र में कृषि क्षेत्र में हरित क्रान्ति के प्रवेश के साथ ही सिंचाई सुविधाओं की माँग बढ़ी, जिसकी पूर्ति का सारा भार भूजल भण्डारों पर आ गया। इस समय मालवा में कुल भूमि का 50-51 प्रतिशत भाग ही सिंचित होता है जो राष्ट्रीय औसत 63-64 प्रतिशत से काफी कम है जिसके फलस्वरूप सिंचाई के निम्नस्तरीय 88 प्रतिशत भाग में सिंचाई भूजल स्रोतों से होती है। इस क्षेत्र की सिंचाई सुविधाओं में सतही जलस्रोत का योगदान नगण्य हो गया है।

इस क्षेत्र के कृषकों ने सिंचाई की बढ़ती माँग की पूर्ति क्षेत्र में पहले भूजल स्रोतों, जैसे - कुओं आदि से करने का प्रयास किया गया। क्षेत्र में सिंचाई हेतु बनाये गये कुओं की संख्या किस तरह बढ़ती गई, इसका अनुमान इन समंकों से लगता है। वर्ष 1966-67 में मालवा में सारे कुओं की संख्या 44,100 थी जो वर्ष 2006-07 में 4.26 लाख, अर्थात् 40 वर्षों में 10 गुनी हो गई (गुप्ता, 2017)।

कुल सिंचित क्षेत्र का 88 प्रतिशत भाग भूजल भण्डारों से ही सिंचित होने के कारण भूजल भण्डार खाली होते गए। खाली होते जा रहे भूजल भण्डारों के पुनर्भरण की दिशा में प्रयास किये जाने थे, किन्तु इसके स्थान पर गाँधी सागर में पानी की आवक को बनाये रखने के लिए नये तालाबों के निर्माण पर तो प्रतिबन्ध लगा ही दिया गया था, साथ ही पुराने तालाब भी कृषि भूमि की बढ़ती माँग के शिकार हो गये। वर्ष 1960 में गाँधी सागर जलाशय में 95 तालाब डूबे थे, अर्थात् यहाँ पर 5.5 वर्ग कि.मी क्षेत्र में एक तालाब था, अगर यही अनुमान शेष मालवा में भी मानें तो वर्ष 1960 में पूरे मालवा में 3800 तालाबों के होने का अनुमान लगता है। होना यह था कि भूजल भण्डारों के दोहन में 10 गुनी वृद्धि होने की पृष्ठभूमि में तालाबों की संख्या में दोगुनी-चौगुनी वृद्धि होनी थी, परन्तु सिंचाई विभाग के अनुसार मालवा में तालाबों की संख्या वर्ष 2007 में 1000 से भी कम रह गयी।

इस तरह मालवा क्षेत्र के भूजल भण्डार दोहरी मार के शिकार हो गये, एक ओर तो इनका तेजी से दोहन हो रहा था, दूसरी और इनके पुनर्भरण की प्रक्रिया निरन्तर गिरती जा रही थी, इससे इनका भूजल स्तर नीचे चला गया। मध्यप्रदेश के जल संसाधन विभाग की मार्च 2009 की रिपोर्ट के आधार पर लगता है कि अब मालवा का भूजल स्तर पूर्व की तुलना में 6 मीटर से अधिक नीचे चला गया है और विभिन्न जिलों में 10-15 से.मी. की दर से गिरता ही जा रहा है। इसी कारण वर्ष 2007 में मालवा में सूखे कुओं की संख्या 56,000 हो गई थी और इसकी संख्या में वर्ष दर वर्ष वृद्धि को देखते हुए अब यह संख्या एक लाख होने का अनुमान

है और परिणामस्वरूप किसानों द्वारा इसमें निवेशित राशि लगभग 1500 करोड़ रुपये व्यर्थ हो गये, साथ ही वे इन कुओं से सिंचाई सुविधाओं से बढ़ने वाली आय से भी वंचित हो गये। इस क्षेत्र में किसानों में बढ़ते असन्तोष का यही प्रमुख कारण है।

मुकेश चौहान की गणना के अनुसार गाँधी सागर के जलग्रहण में कुओं के माध्यम से उनके पुनर्भरण की तुलना में 1185 एम.सी.एम. पानी का प्रतिवर्ष अधिक दोहन किया जा रहा था (चौहान, 2013)। जल संसाधन विभाग, मध्यप्रदेश शासन की वर्ष 2009 की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2009 में मालवा के भूजल भण्डारों के सम्पोषणीय दोहन (भूजल भण्डारों की 70 प्रतिशत) की अर्थात् 1690 एम.सी.एम. पानी का अधिक दोहन किया जा रहा था।

जब क्षेत्र के कुए सूखने लगे तो किसानों ने नलकूपों का सहारा लेना शुरू कर दिया, शासन ने भी प्रति नलकूप 30 हजार का अनुदान और सस्ती बिजली प्रदान कर इसी प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया। अब मालवा के कुल सिंचित क्षेत्र में नलकूपों से सिंचित क्षेत्र आधे से अधिक हो गया है।

चूँकि नलकूपों से सिंचाई वही किसान कर सकते हैं, जिनके पास आवश्यक वित्तीय स्रोत हों तथा भूमि का आकार अधिक हो। इस तरह नलकूपों से सिंचित क्षेत्र की वृद्धि के फलस्वरूप उन भूजल स्रोतों का, जो भूमि के नीचे द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्तर की चट्टानों पर सैकडो वर्षों में रिस-रिस कर संगृहीत होते हैं और एक बार इन जल भण्डारों के खाली हो जाने पर उनके दोबारा भरने में सैकड़ों वर्ष लगते हैं।

इन भण्डारों का भी दोहन होने लगा, जो हमारे पूर्वजों के समय हुई वर्षा के माध्यम से भरे गये थे। नलकूपों के द्वारा गहराई-अतिगहराई पर उन जल भण्डारों को खाली किया जा रहा है। इन वर्षों में कई नलकूपों की सिंचाई क्षमता समाप्त हो गई है। नलकूपों का वितरण पूरे मालवा में समान नहीं है, मन्दसौर और नीमच जिले के नीचे चूने की चट्टाने हैं जिनमें पानी का रिसाव कम होता है, इनमें नलकूप का हिस्सा 7 प्रतिशत ही है।

मालवा क्षेत्र के तीन चौथाई नलकूप धार, इन्दौर, उज्जैन और रतलाम जिलों में ही हैं। कुल मिलाकर जो चित्र उभरता है वह यह है कि इस क्षेत्र के किसान गाँधीसागर के कारण अपने 90 से.मी. वर्षा में से 27 से.मी. वर्षा के पानी से हमेशा के लिए हाथ धो बैठे हैं और उपलब्ध भूजल स्रोतों तक उनकी पहुँच भी असमान, सीमित और महँगी होती जा रही है। इस सारी व्यवस्था ने मालवा के लोगों, विशेषकर किसानों तक पानी की पहुँच को समय के साथ निम्नतर बना दिया और क्षेत्र के भूजल भण्डारों को खाली कर दिया। भूजल के गिरते स्तर के कारण प्राकृतिक जल चक्र भी विकृत हो गया है।

सामान्य तथा वर्षा काल में नदियों तथा नालों में जल स्तर ऊँचा हो जाता है और उसके दोहन के कारण रिक्त हुए भूजल भण्डारों का पुनर्भरण हो जाता था और ग्रीष्मकाल में नदियों में नीचे चले गये जल स्तर का भूजल भण्डारों के पानी से नदियों में बहाव बना रहता था, परन्तु अब स्थिति इसके प्रतिकूल हो जाने के कारण नदियों का बचा हुआ पानी भी अत्यन्त गहराई में चले गये भूजल भण्डारो की ओर आकर्षित हो जाता है और पूर्व की तुलना

में ये अपना बहाव खोने लगी हैं और वर्षा की समाप्ति के कुछ समय बाद ही सूखने लगती हैं। इनमें पर्याप्तता की दृष्टि से आवश्यक न्यूनतम प्रवाह भी नहीं रहता है और इससे इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी को हानि पहुँची है। इस समय मालवा मे जल संसाधनों की दृष्टि से वास्तविकताओं को इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है -

1. मालवा के सतही स्रोतों के स्थानीय उपयोग पर प्रतिबन्ध से मालवा अपनी वर्षा से प्राप्त पानी के लगभग एक तिहाई भाग के उपयोग से वंचित हो गया। मालवा से छोड़ा गया 6000 एम.सी.एम. पानी चम्बल घाटी योजना से दोहन किये जाने वाले पानी का 83 प्रतिशत होता है और ऊपर सन्दर्भित अध्ययन से पता चलता है कि इस पानी के अधिकांश भाग का उपयोग तो राजस्थान, मध्यप्रदेश के विभाजन से पूर्व ही कर लेता है। इस तरह गाँधी सागर मालवा के पानी की राजस्थान द्वारा लूट का माध्यम बन गया है। मालवा से लिये गये पानी का एक चौथाई से भी कम भाग प्रदेश के अन्य जिलों जैसे, श्योपुर कलाँ, मुरैना और भिण्ड जिले में प्रयुक्त किया जाता है।
2. मालवा क्षेत्र में पानी की पूर्ति का सारा भार भूजल भण्डारों पर आ जाने से वे इस समय पूरी तरह खाली हो गये हैं। उनमें इस समय वार्षिक वर्षा के दौरान भरने वाला पानी ही दोहन नहीं किया जा रहा है, बल्कि हमारे पूर्वजों के समय की वर्षा का पानी जो बूँद-बूँद रिस-रिस कर नीचे जाता है और जमीन के काफी नीचे संगृहीत होता है, उसे भी उलीचा जा रहा है। इस तरह हम प्रतिवर्ष भरे जाने वाले और पूर्वजों के समय पचासों वर्ष पूर्व भरे गये पानी से हाथ धो बैठने की स्थिति में आ गये हैं।
3. वर्षा से प्राप्त और सारे भूजल भण्डारों में संगृहीत पानी से हम हाथ धो बैठे हैं और इसीलिये इंटरनेशल वाटर मैनेजमेंट इंस्टीट्यूट और सेन्टर फॉर साइंस एवं इन्वायरमेंट इस क्षेत्र को सूखा प्रदेश बता रही है और भूवैज्ञानिक इसके मरुस्थल में प्रवेश करने की घोषणा कर रहे हैं।

ऐसे में प्रश्न यह है कि मालवा को मरुस्थलीकरण का शिकार होने से कैसे बचाया जाये? इस हेतु सर्वप्रथम हमें हमारे रिक्त हो चुके भूजल भण्डारों का पुनर्भरण करना होगा। भूजल भण्डारों के पुनर्भरण के सबसे सशक्त माध्यम तालाब, रोक बाँध, बोरी बाँध, आदि होते हैं। वर्तमान में गाँधी सागर के निर्माण के समय अनुमानित 3800 तालाबों की तुलना में 1000 से भी कम तालाब हो गये हैं। अत: एक आन्दोलन चला कर मालवा में तालाबों की संख्या वर्तमान से पाँच-छह गुना अधिक करना होगी।

विभिन्न सूचनाओं से लगता है कि प्रदेश के इस क्षेत्र तथा अन्य क्षेत्रों के ग्रामीण पानी के अभाव से सफल मुक्ति के लिए तालाब बनाने की दिशा में आगे आ रहे हैं। मालवा को भी इसी दिशा में आगे आना होगा। गाँधी सागर में पानी की आवक पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा, यह हमारी चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए।

प्रसिद्ध भूजल वैज्ञानिक सान्द्रा पोस्टल के अनुसार तो वर्षा के जल संग्रहण के श्रेष्ठ माध्यम बड़े-बड़े बाँध और उनसे निर्मित बड़े-बड़े जलाशय न होकर हमारे भूजल भण्डार हैं।

भूजल भण्डारों में जल संग्रहण से न तो कोई भूमि डूब में आती है, न ही विस्थापन होता है। जबकि बड़े-बड़े जलाशयों का 10-12 प्रतिशत पानी तो वाष्पीकरण से नष्ट हो जाता है (पोस्टल, 2017)

अत: हमें गाँधीसागर जलाशय की इस पृष्ठभूमि में मालवावासियों के सारे प्रयास अपने खाली हो चुके भूजल भण्डारों के भरने की दिशा में होना चाहिए। अगर हमारे सारे प्रयास भूजल भण्डारों के पुनर्भरण की दिशा में किये जाते हैं तो इस क्षेत्र के सूख चुके एक लाख कुए पुन: भर सकेंगे और किसानों के करोड़ों रुपये पुन: उत्पादक हो सकेंगे और उनके चेहरों पर रौनक आ सकेगी। वर्तमान में जिन कुओं से सिंचाई हो रही है, उनकी सिंचाई क्षमता में भी वृद्धि हो जायेगी।

अगर हम हमारे रिक्त हो चुके जल भूजल भण्डारों का पुनर्भरण कर लेते हैं, हमारा भूजल स्तर ऊँचा उठ जाता है और सूखे कुओं में पानी भर जाता है और वर्तमान में सिंचाई क्षमता वाले कुओं की क्षमता बढ़ जाती है तो वर्षा का पानी हमारे नदी-नालों में फिर वर्ष भर बहने लगेगा। प्रयासों और वर्ष भर पानी बहने की स्थिति निर्मित होने में कुछ समय लग सकता है। तरुण भारत संघ के द्वारा अलवर जिले की अरवारी तहसील के रिक्त हो चुके भण्डारों के पुनर्भरण के प्रयासों के परिणाम इसी दिशा में संकेत करते हैं।

कुल मिलाकर एक ही नारा होना चाहिए कि मालवा में रिक्त हो चुके भूजल भण्डारों का पुनर्भरण करना है और अगर इस दिशा में किसी प्रकार की कानूनी बाधा आती है तो मालवा के लिए अपनी आवश्यकता के पानी की पूर्ति के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। ऐसी किसी बाधा को स्वीकार करना मालवा के लिए आत्मघाती होगा और ऐसी बाधा का कानूनी एवं नैतिक दृष्टि से कोई औचित्य उपयुक्त नहीं माना जा सकता। जब जनता और सरकार यह नारा वर्षों से दे रही है कि 'खेत का पानी खेत में - गाँव का पानी गाँव में', तो इसी नारे को आगे बढ़ाकर मालवा का पानी मालवा में करना होगा। हाँ, निश्चय ही हमें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि हमारे नदी-नालों में पर्यावरणीय प्रवाह बना रहे।

सन्दर्भ

चौहान, मुकेश एवं श्रीवास्तव, आर.के. (2013), 'स्टेटस पेपर ऑन वाटर शॉर्टेज ऑफ रिक्वायरमेंट ऑफ अपर चम्बल सब-बेसिन ऑफ मालवा रीजन', *जर्नल ऑफ इंडिया वाटर रिसोर्सेस सोसायटी*, 33(2), अप्रैल.

गुप्ता, रामप्रताप (2017), 'चम्बल घाटी योजना के अन्तर्गत बने गाँधीसागर बाँध में पानी की आवक के लिए जिम्मेदार घटकों का विश्लेषण, *मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल*, अंक 2.

गुप्ता, रामप्रताप एवं कावड़िया गणेश (2009), *गाँधी सागर परियोजना एवं मालवा-पर्यावरणीय एवं सामाजिक मुद्दे*, अर्थशास्त्र अध्ययनशाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर.

मिश्र, अनुपम, (2020), *तालाब आज भी खरे हैं*, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली.

पोस्टल, सान्द्रा (2017), *रिप्लेनिश द वर्चुअस सायकल ऑफ वाटर एंड प्रॉस्पेरेटी*, आयलेंड प्रेस.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 8-17)

गांधीय दर्शन : वैश्विक जगत और समतामूलक समाज की रचना में इसकी प्रमुख भूमिका

डी.आर. शर्मा*

महात्मा गांधी को विकास की चेतना का प्रमुख सूत्रधार माना जाता है। गांधीजी का मानना था कि भारत के अधिकांश लोग गाँवों में ही निवास करते हैं। अत: गाँवों की खुशहाली के बिना देश की खुशहाली सम्भव नहीं है। गांधीजी के द्वारा प्रत्येक गांव को स्वावलम्बी एवं आत्मनिर्भर बनाकर समानता पर आधारित राष्ट्र के निर्माण की परिकल्पना प्रस्तुत की गई। गांधीजी का चिन्तन सम्पूर्ण मानव जाति से सम्बन्धित था तथा सभी सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों से ऊपर था। गांधी चिन्तन को गांधीवाद कहा जाता है, यद्यपि गांधीजी के द्वारा किसी वाद का प्रतिपादन नहीं किया गया है। वर्तमान विश्व व्यवस्था में निश्चित रूप से गांधीवाद विद्यमान है। महात्मा गांधी के अनुसार भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है, इस मन्त्र को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि देश के गाँवों को विकास के पथ पर अग्रसर किया जाए तथा गाँवों को विकास की मुख्य प्रक्रिया में शामिल किया जाए। विकास का मूलभूत उद्देश्य एक ऐसी समतावादी समाज व्यवस्था को सुनिश्चित करना है, जिसमें सभी व्यक्ति समान हों, सभी के लिए समान अवसर उपलब्ध हों तथा विभिन्न क्षेत्रों, वर्गों एवं समाज में असमानता की उपस्थिति नहीं हो।

*संकाय सदस्य, राजनीति विज्ञान एवं प्राचार्य, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, मुण्डावर, अलवर (राजस्थान)
E-mail: sharmadrdr@gmail.com

महात्मा गांधी के द्वारा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए समतामूलक समाज की रचना पर बल दिया गया तथा उन्होंने मानवता को सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। गांधीजी समाज सुधारक और नेता ही नहीं थे बल्कि राजनीतिक चिन्तन की नवीन दिशा देने वाले सक्रिय राजनीतिक एवं विचारशील विद्वान थे। गांधीजी सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आन्दोलन के मुख्य कर्णधार रहे हैं। उनके विचारों का सम्पूर्ण विश्व पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उन्होंने पवित्रता, नैतिकता और आध्यात्मिकता के आधार पर भारतीय मूल्यों को अपने चिन्तन के द्वारा प्रस्तुत किया। गांधीजी का चिन्तन सम्पूर्ण मानव जाति से सम्बन्धित था तथा सभी सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों से ऊपर था।[1] गांधी चिन्तन को गांधीवाद कहा जाता है, यद्धपि गांधीजी द्वारा किसी वाद का प्रतिपादन नहीं किया गया है। वर्तमान वैश्विक व्यवस्था में निश्चित रूप से गांधीवाद के तत्व अवस्थित हैं।

सत्य और अहिंसा पर आधारित उनके दर्शन और विचारों की वर्तमान में बहुत आवश्यकता महसूस की जा रही है तथा समय बीतने के साथ-साथ गांधीजी हमारे लिए महत्वपूर्ण बनते जा रहे हैं।[2] वैश्विक स्तर पर व्याप्त हिंसा, अराजकता, मतभेद और तनावपूर्ण वातावरण में सम्प्रति बार-बार यह प्रश्न सामने आ रहे हैं कि गांधीजी के सत्य और अहिंसा पर आधारित दर्शन और विचारों की आज कितनी आवश्यकता है। गांधीजी के विचारों से भेद रखने वाली शक्तियों को भी भली-भांति उनके दर्शन की आवश्यकता महसूस होने लगी है। जैसे-जैसे विश्व समुदाय आर्थिक मन्दी, भूख, बेरोजगारी और नफरत जैसी विभिन्न परिस्थितियों में उलझता जा रहा है, वैसे-वैसे दुनिया को न केवल गांधीजी के दर्शन याद आ रहे हैं, बल्कि गांधीय दर्शन को आत्मसात करने की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी है। अमेरिका पर 11 सितम्बर 2001 को हुए आतंकवादी हमले ने सम्पूर्ण विश्व की राजनीति का दृष्टिकोण ही बदलकर रख दिया था। इस आतंकी हमले के पश्चात् तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज डब्ल्यू. बुश द्वितीय ने कहा था कि यह हमला अमरीका पर नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव सभ्यता पर हमला है। अमेरिका पर हुए आतंकी हमले को अमेरिकी स्वाभिमान पर हमला मानते हुए राष्ट्रपति बुश ने आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। उनकी इस घोषणा के बाद तथा राष्ट्रपति बुश के आक्रामक तेवर को समझने के बाद दुनिया दो भागों में विभाजित हो गई। स्वयं जॉर्ज बुश ने भी उस समय यही कहा कि दुनिया के देशों के समक्ष इस समय केवल दो ही विकल्प हैं - "सभी देश हमारे साथ हैं और जो देश हमारे साथ नहीं हैं, वे निश्चित रूप से आतंकवाद के साथ हैं"। अमरीका पर हुए आतंकवादी हमले की सभी देशों के द्वारा निन्दा की गई तथा सभी देश अमरीका के साथ खड़े नजर आए। विश्व के सभी देश आतंकवादी घटनाओं से जूझ रहे हैं। इन सब परिस्थितियों में गांधीय दर्शन की आवश्यकता सम्पूर्ण विश्व समुदाय के द्वारा और अधिक महसूस की जाने लगी है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा सम्पूर्ण विश्व समुदाय को यह सन्देश दिया गया कि अहिंसा से हिंसा को पराजित किया जा सकता है। आज पूरे भारत में साम्प्रदायिकता फल-फूल रही है। विश्व के अन्य कई देश भी इस समय साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद की भावना से

ग्रसित हैं। सत्ता प्राप्त करने के लिए कहीं साम्प्रदायिक दंगे करवाये जा रहे हैं तो कहीं भाषा, जाति, वर्ग भेद की लकीरें खींची जा रही हैं। इस समय विश्व के अनेक देशों में शान्ति मार्च निकाले जाते हैं, अत्याचार व हिंसा का विरोध किया जाता है तथा हिंसा का जवाब अहिंसा में दिये जाने के मुद्दे जैसे विभिन्न अवसरों पर सम्पूर्ण विश्व समुदाय को गांधीजी के विचार याद आते हैं। इतिहासकार और लेखक रामचन्द्र गुहा के अनुसार, गांधीजी के चार सिद्धान्त आज भारत ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए प्रासंगिक हैं - 1. जनविरोधी सरकार या कानून के विरुद्ध अहिंसक प्रदर्शन किये जाने चाहिए, 2. एक दूसरे के धर्म को समझना और उसका सम्मान किया जाना चाहिए, 3. ऐसी आर्थिक नीतियों का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे सभी का विकास सुनिश्चित किया जा सके और प्रकृति को कम से कम नुकसान पहुँचाया जा सके, तथा 4. व्यवहार में शिष्टाचार और जनता से जुड़े कार्यों में पारदर्शिता लाने पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।

महात्मा गांधी का स्पष्ट मानना था कि भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है, बिना गाँवों के समृद्ध हुए भारत के समृद्ध होने की कल्पना नहीं की जा सकती है।[3] गांधीजी का आर्थिक चिन्तन शाश्वत प्रासंगिकता लिये हुए है। उदारीकरण की नीतियों के फलस्वरूप तृतीय विश्व के देशों को अधिक लाभ प्राप्त नहीं हुआ है। भारत जैसे देशों में गरीबी और अमीरी के मध्य अन्तर अधिक गहरा हुआ है। दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आए गांधीजी ने भारतीय गाँवों की दुर्दशा को देखकर कहा था - "हमारे गाँव तुच्छ हो गये हैं, क्योंकि हम सच्चा अर्थशास्त्र और सच्चा समाजशास्त्र नहीं जानते हैं।"[4] बेरोजगारी में वृद्धि हुई है तथा उपभोक्तावाद और पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते प्रभाव के कारण सामाजिक मूल्यों में अनवरत गिरावट आ रही है। भारत जैसे देशों में आज पुन: उन आर्थिक नीतियों को लागू किये जाने की माँगें उठ रही हैं, जो गांधीवादी आर्थिक चिन्तन से स्पष्टत: जुड़ी हुई हैं। गांधीवादी आर्थिक चिन्तन में सर्वाधिक महत्व स्व-रोजगार में लगे उत्पादकों, किसानों, कारीगरों एवं श्रमिकों को दिया गया है। यही वह वर्ग है जो अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए उत्पादन क्रियाओं का सम्पन्न करता है। गांधीजी लाखों छोटे उत्पादकों एवं श्रमिकों को जो आबादी का एक बहुत बड़ा भाग हैं, इनकी उत्पादन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका समझते थे। गांधीजी का मानना था कि इस विराट शक्ति की आर्थिक विकास में भागीदारी के लिए एक नवीन रुख और अनुसन्धान की आवश्यकता है, जो पश्चिमी या सोवियत आदर्शों से पृथक हो। गांधीजी ने महसूस किया था कि भारत की गरीबी मूलत: ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उपेक्षा का परिणाम है और अर्थव्यवस्था की नये सिरे से संरचना करके ही इसका हल खोजा जा सकता है। उन्होंने सुझाव दिया - "उद्योगों का विस्तार गाँवों तक किया जाना चाहिए और एक व्यावहारिक ग्रामीण अर्थशास्त्र की रचना की जानी चाहिए तथा शहरों को गाँवों की पैदावार का बिक्री केन्द्र बनाया जाना चाहिए, ताकि गाँवों को भी विकास प्रक्रिया में सम्मिलित किया जा सके।"[5]

गांधीजी का आर्थिक चितन बेहद सहज एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उनके द्वारा मानव कल्याण को मात्र भौतिक दृष्टि से ही नहीं देखा जाता था, उन्हें यह स्वीकार्य नहीं था कि आवश्यकताओं को अन्तहीन ढँग से बढ़ाना ही सभ्यता का मापदण्ड है। गांधीजी के अनुसार - "भूख से मरते और बेरोजगार व्यक्ति को ईश्वर का जो स्वरूप स्वीकार्य हो सकता है, वह काम और वेतन के रूप में भोजन का आश्वासन है।" विलासिता के साधनों की अपेक्षा रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य एवं शिक्षा उनकी प्राथमिकताओं में सम्मिलित थे। गांधीजी भारतीय गाँवों के उत्थान के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने ग्राम स्वराज की पहल की जो यह सुनिश्चित करेगा कि प्रत्येक गाँव अपनी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के लिए आत्मनिर्भर बने, उसकी अपनी संस्थाएँ हों और अपने ही स्थानीय अधिकारी हों, जो स्थानीय निर्वाचित पंचायत की देखरेख में कार्य करें। ग्राम स्वराज की इसी पहल को वैधानिक रूप देते हुए सन् 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। देश के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा गांधीजी के स्वप्न को साकार करने के लिए 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज का शुभारम्भ किया गया। इस अवसर पर उन्होंने कहा - "यदि गांधीजी आज हमारे मध्य होते तो अवश्य ही खुश होते, यह एक ऐतिहासिक कार्य है।"[6] सन् 1992 में 73वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। ग्राम विकास के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए कांग्रेस सरकार ने गांधीजी के ग्राम स्वराज और सर्वोदय के सपने को मूर्त रूप देने के लिए सन् 2008 में राष्ट्रीय रोजगार कार्यक्रम अधिनियम पारित किया तथा मनरेगा जैसी क्रान्तिकारी योजना का सूत्रपात किया, जिसे विश्व बैंक द्वारा भी अगस्त 2015 में विश्व का सबसे बड़ा रोजगार कार्यक्रम स्वीकार किया गया।[7]

गांधीजी ने सदैव श्रम के महत्व को स्वीकार किया है। उनके शब्दों में - "मैं नंगे रहने वाले व्यक्तियों को कपड़े देकर उनका अपमान नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि उन्हें कपड़ों की आवश्यकता नहीं है। इसके बजाये उन्हें काम दिया जाना चाहिए।" बेरोजगार और भूखे लोगों के लिए कार्य करना चाहते थे। उनके मस्तिष्क में यह विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक श्रम से उपार्जित किया गया भोजन ग्रहण करना चाहिए। उनका यह विचार गीता से प्रेरित था। गीता में लिखा है - "जो व्यक्ति बिना श्रम किए भोजन ग्रहण करता है, वह वस्तुत: पाप का अन्न ग्रहण करता है।" गांधीजी के अनुसार श्रम से तात्पर्य रोटी के लिए किये जाने वाले श्रम से था। गांधीजी चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने भोजन के लिए कार्य करना चाहिए और कोई भी व्यक्ति अपने इस अपरिहार्य दायित्व से बच नहीं सकता। अपने इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में उनका विश्वास था - "यह सामाजिक ढाँचे में मूल क्रान्ति को जन्म देगा तथा समाज में वर्ग या श्रेणी भेद, श्रम तथा पूंजी के मध्य संघर्ष तथा गरीब एवं अमीर के मध्य व्याप्त खाई को समाप्त करेगा, समाज में अस्तित्व के लिए संघर्ष पारस्परिक सेवाओं के लिए किये जाने वाले संघर्ष में परिवर्तित हो जाएगा।" भारतीय अर्थव्यवस्था ग्राम प्रधान अर्थव्यवस्था है, क्योंकि देश की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में ही निवास करती है। गाँवों को

विकास की मुख्य धारा में सम्मिलित करके ही समग्र और वास्तविक विकास अर्जित किया जा सकता है, क्योंकि ग्राम विकास ही समग्र विकास का सूचक है। गांधीजी के अनुसार भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है, इस मन्त्र को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि देश के गाँवों को विकास के पथ पर अग्रसर किया जाए तथा गाँवों को विकास की मुख्य धारा में शामिल किया जाए। विकास का मूलभूत उद्देश्य एक ऐसी समतामूलक सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करना है, जिसमें सभी व्यक्ति समान हों, सभी के लिए समान अवसर उपलब्ध हों तथा विभिन्न क्षेत्रों, वर्गों और समाज में असमानता की उपस्थिति नहीं हो। भारत में ग्राम विकास की चेतना का सूत्रपात महात्मा गांधी के द्वारा किया गया। गांधीजी का मानना था कि भारत के अधिकांश लोग गाँवों में ही निवास करते हैं। अत: गाँवों की खुशहाली के बिना देश की खुशहाली सम्भव नहीं है। गांधीजी के द्वारा प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी एवं आत्मनिर्भर बनाकर समानता पर आधारित राष्ट्र के निर्माण की परिकल्पना प्रस्तुत की गई। उन्होंने भारत के विकास की प्रत्येक योजना का प्रारम्भ गाँव से ही करने पर बल दिया तथा यह मत भी व्यक्त किया कि गाँव को एक इकाई मान कर कार्ययोजनाओं का निर्धारण किया जाना चाहिए।

गांधीजी के द्वारा 6 मई 1939 को वृन्दावन में आयोजित एक सभा को सम्बोधित करते हुए कहा गया था - "मुझे यह देखकर अत्यन्त दु:ख हुआ कि आप लोगों में से अधिकांश या तो शहर से आये हैं या शहरी जीवन के अभ्यस्त हैं। जब तक आप अपना मन शहर से हटाकर गाँवों में नहीं लगाएँगे तब तक आप ग्रामीण लोगों की सेवा नहीं कर सकते। आपको यह भी समझ लेना चाहिए कि हिन्दुस्तान गाँवों से बना है, शहरों से नहीं और जब तक आप गाँव के जीवन को और गाँवों के कुटीर उद्योगों को पुनर्जीवित नहीं कर सकते तब तक आप उनका पुनर्निर्माण नहीं कर सकते। हमारे गाँवों में जीवन का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है और यह मृतप्राय है। मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार अधिनियम में अपनी भूमिका निभाने वाले कॉर्टिस ने सन् 1918 में भारत की यात्रा करते समय कहा था - "दूसरे देशों के गाँवों के साथ हिन्दुस्तान के गाँवों की तुलना करते समय मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो हिन्दुस्तान के गाँव घूर पर बसाये गये हैं।"[8] औद्योगीकरण उनमें प्राणों का संचार नहीं कर सकता है। अपनी झोपड़ी में रहने वाले किसान को जीवन तभी मिलेगा जब उसे अपने घरेलू उद्योग फिर से वापस मिलेंगे तथा जब अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए वह गाँवों पर ही निर्भर रहेगा शहरों पर नहीं, जैसा कि आज उसे विवश होकर करना पड़ रहा है। इस आधारभूत सिद्धान्त को यदि आप आत्मसात नहीं करेंगे, तो ग्रामीण पुनर्निर्माण के उस कार्य में लगने वाला सारा समय व्यर्थ जाएगा।"[9]

वैश्विक जगत और गांधीय दर्शन

वैश्विक जगत में गांधीजी के सिद्धान्त आज भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं। यदि सम्पूर्ण विश्व समुदाय इसके अनुसार अपनी कार्यप्रणाली निर्धारित करे तो निश्चित

रूप से हिंसा पर नियन्त्रण पाया जा सकता है और आतंकवादी संगठनों पर रोक लगाई जा सकती है। सम्पूर्ण विश्व के लिए विकास के मार्ग का निर्माण किया जा सकता है। गांधीजी का स्पष्ट मानना था कि आधुनिकता से तात्पर्य गलाकाट स्पर्धा नहीं है। आज का युवा वर्ग और नेतृत्व गांधीजी के बताये मार्ग पर चल पड़े तो उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में सफल होने से कोई नहीं रोक सकता। गांधीवाद से प्रेरणा लेने वाले बीसवीं सदी के नेताओं में मार्टिन लूथर किंग जूनियर, दलाई लामा और डेसमंड टूटु जैसे विद्वान सम्मिलित हैं। नेल्सन मंडेला, आन सान सू की और अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति बराक ओबामा भी गांधीजी के विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं। विश्व की राजनीति में संभवत: महात्मा गांधी ही एक ऐसे अपवाद रहे हैं, जो भारतीय स्वतन्त्रता के कर्णधार होकर भी देश की आजादी के पश्चात सत्ता से दूर रहे। भारत के साथ-साथ विश्व के जिन राष्ट्रों में स्वतन्त्रता का आगाज हुआ, वहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही कि आजादी की लड़ाई का नेतृत्व करने वाले बाद में सत्ता में भी सम्मिलित हुए हैं। रूस में लेनिन, तुर्की में मुस्तफा कमाल पाशा, पाकिस्तान के निर्माता मुहम्मद अली जिन्ना, मिस्र में अब्दुल नासिर, चीन में माओ तथा चाऊ एन लाई, बर्मा में जनरल यांग सन, श्रीलंका में भंडारनायके और बांग्लादेश में बंगबन्धु मुजीबुर्रहमान जैसे अनेक उदाहरण हैं।

गांधीय दर्शन के महत्व का अर्थ इसी बात से लगाया जा सकता है कि विश्व के 70 देशों में महात्मा गांधी की प्रतिमाएँ लगी हुई हैं। भारत के बाद अमरीका में सर्वाधिक 30 प्रतिमाएँ अलग-अलग शहरों में स्थापित हैं। गांधीजी पर लिखी गई अनेक पुस्तकों का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। भारत के 67वें स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर कनाडा के विनीपेग शहर में सड़क का नामकरण महात्मा गांधी के नाम पर किया गया। काहिरा में पूर्व दूत पी.ए. नजारथ की पुस्तक 'गांधीज़ आउटस्टेंडिंग लीडरशिप' के अरबी संस्करण का विमोचन किया गया है। पुस्तक में मिस्र, फिलिस्तीन और दक्षिण अफ्रीका सहित विश्व के अनेक देशों पर गांधीजी के प्रभाव पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। स्पेन के बुर्गस शहर में महात्मा गांधी की प्रतिमा लगाई है। स्पेन के द्वारा इसे अपने प्रमुख पर्यटन स्थलों के रूप में प्रचारित किया जाता है। सन् 1968 में लटन के टेविस्टोक स्क्वेयर पर गांधीजी की प्रतिमा स्थापित की गई थी। महात्मा गांधी साधना और संयम से युक्त जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें करोड़ों देशवासी दैवीय प्रेरणा प्राप्त सन्त के रूप पूजते हैं। लक्ष्य साधन में उनके सत्य और निष्ठा पर किसी के द्वारा अंगुली नहीं उठाई जा सकती है। वर्तमान विश्व के अनेक बड़े नेता उनके सिद्धान्तों से प्रभावित हैं और अहिंसा की अवधारणा में विश्वास करते हैं। अहिंसा और धार्मिक सहिष्णुता भारत के दो खजाने हैं तथा प्रारम्भ से ही यह सिद्धान्त देश की पहचान रहे हैं।

इन सब परिस्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि वैश्विक समुदाय गांधीजी की सत्य और अहिंसा सम्बन्धी विचारधारा को आत्मसात करे, क्योंकि विचार दर्शन से प्रवाह हुआ करता है और गांधी दर्शन के मूल में आपको सत्य, अहिंसा, सादगी, अस्तेय, अपरिग्रह और नैतिकता के दर्शन होंगे। जहाँ से स्थानीय स्वशासन, स्वावलम्बन, स्वदेशी, विकेन्द्रीकरण,

ट्रस्टीशिप, सह-अस्तित्व, शोषण मुक्त व्यवस्था और सहयोग, सद्भाव एवं समानता पर आधारित जागृति युक्त व्यवस्था का उदय होगा। गांधीजी को सत्याग्रह के लिए जाना जाता है, दरअसल गांधीजी के सत्याग्रह का व्यापक अर्थ है - अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, दमन करने वाली जनविरोधी और शोषणकारी व्यवस्थाओं से असहयोग तथा समाज में शुभचिन्तन और शुभ कर्म करने वाले लोगों और संगठनों के बीच समन्वय की स्थापना करना। आधुनिक समय में इसकी प्रासंगिकता बनी हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि हमे अपने ढँग से ईमानदारी के साथ सत्याग्रह के सम्यक् प्रयोग पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। हम सत्य पर अडिग रहें, साध्य और साधन की पवित्रता पर विश्वास करें तथा व्यापक जनहित पर हमारा ध्यान केन्द्रित रहे। हमारे द्वारा समाज को बेहतर बनाने के लिए निरंकुश राजसत्ता पर जनता के प्रभावी अंकुश के लिए, नवीन समाज के निर्माण के लिए, मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए और स्वयं अपने अन्दर विद्यमान बुराइयों को मिटाने के लिए सत्याग्रह का प्रयोग किया जाना चाहिए।

उदारीकरण के इस दौर में राज्य उपनिवेशवाद का स्थान बहुराष्ट्रीय उपनिवेशवाद ने ले लिया है। गांधीजी से सदैव राज्य उपनिवेशवाद का विरोध किया। गांधीजी के अनुसार विकास के लिए बुनियादी शर्त थी कि हम अन्दर से सबल बनें, आन्तरिक संसाधनों पर हमारी अधिक निर्भरता हो, निर्णय लेने का अधिकार हमारे हाथों में केन्द्रित हो और हमारी सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ स्वत:स्फूर्त होनी चाहिए। गांधीजी बाहर की चीजों का एकदम विरोध नही करते थे, बल्कि वे इसकी अत्यन्त कम आवश्यकता के पक्षधर थे, क्योंकि उनका मानना था कि बाहरी शक्तियों के आवश्यकता से अधिक होने पर वे हम पर हावी होती जाएँगी, परिणामस्वरूप हमारी स्वतन्त्रता बाधित होती जाएगी। गांधीजी की वैश्विक महासंघ की परिकल्पना में सभी राष्ट्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। उनके अनुसार किसी भी राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों के शोषण की आजादी नहीं दी जा सकती है और न ही कोई राष्ट्र इतना कमजोर होगा कि अन्य राष्ट्र उसके स्वयं का दोहन या उसकी सम्प्रभुता का अपहरण कर सकें। गांधीजी का विचार था कि हमारे दिमाग की खिड़कियाँ इतनी अवश्य खुली होनी चाहिए कि हम बाहर की चीजों का लाभ उठा सकें, लेकिन साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारे दरवाजे इतने न खुल जाएँ कि बाहर का भीषण अंधड़-तूफान हमारे अन्दर प्रवेश कर जाए और हमारे पवित्र विचारों को प्रभावित करे।

इस समय भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में गांधीवादी विचारधारा की आवश्यकता महसूस की जा रही है। आज एक ऐसी विचारधारा की आवश्यकता है, जो सम्पूर्ण मानवता को सत्य, अहिंसा और धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करे। गांधीजी ने सत्य और अहिंसा के इन्हीं हथियारों से अंग्रेज सरकार को उखाड़ फेंका, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता है। इस साबरमती के सन्त ने निरंकुश और तानाशाह सरकार को भागने के लिए विवश कर दिया। गांधीजी के इस बहुमूल्य योगदान को याद करते हुए सन् 1954 में बनी फिल्म जागृति में कवि प्रदीप ने 'साबरमती के सन्त तूने कर

दिया कमाल, दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल' गाना लिखा, जिसे आशा भोंसले द्वारा गाया गया है। विश्व के महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन के आदर्श श्वाइटज़र ने भारत पर केन्द्रित अपनी पुस्तक 'इंडियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट' में लिखा है - "गांधी का जीवन दर्शन अपने आप में एक संसार है। गांधी ने बुद्ध से शुरू की हुई यात्रा को ही जारी रखा है और बुद्ध के सन्देश में प्रेम की भावना विश्व में अलग प्रकार की आध्यात्मिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का लक्ष्य सामने रखती हैं। गांधी तक आते-आते यह प्रेम केवल आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि समस्त सांसारिक परिस्थितियों को परिवर्तित करने का कार्य अपने नियन्त्रण में ले लेता है।

विश्व के महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने अपने कक्ष में दो तस्वीरें लगा रखी थीं, एक थी विश्व के महान मानवतावादी श्वाइटज़र की और दूसरी महात्मा गांधी की। इसे स्पष्ट करते हुए आइंस्टीन ने कहा था - "अब समय आ गया है कि हम सफलता की तस्वीर के स्थान पर सेवा की तस्वीर लगा दें।" पदार्थ विज्ञान की गुत्थियों को सुलझाते हुए भी आइंस्टीन धर्म, अध्यात्म, प्रकृति और कल्पनाशीलता जैसे विषयों पर लगातार चिन्तन करते रहे और जब-जब भी उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि विज्ञान और एकांगी तर्कवाद अपने अहंकार पर सवार होकर सम्पूर्ण मानव जाति के लिए ही संकट बन सकता है तब-तब उन्होंने अहिंसा विनम्रता, सेवा और त्याग की ही चर्चाएँ कीं और ऐसे अवसरों पर उनके सामने बार-बार महात्मा गांधी का जीवन एक आदर्श उदाहरण के रूप में सामने आता रहा है। दरअसल महात्मा गांधी के असहयोग, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और सत्याग्रह जैसे अहिंसक साधनों के सम्बन्ध में यूरोप और अमरीका के अखबारों में लगातार लिखा गया और आइंस्टीन तक भी ये विचार अवश्य पहुँचे होंगे। इसी बीच आइस्टीन ने विश्व की सेनाओं से अपील की कि वे युद्ध में शामिल होने से मना कर दें। इससे पूर्व लियो टॉल्सटॉय भी लोगों को सेना में शामिल होने से मना करने का आह्वान कर चुके थे, लेकिन आइंस्टीन की इस अपील से यूरोप के कुछ शान्तिवादी भी विचलित हुए और उन्हीं में से एक ब्रिटिश शान्तिवादी रुनहम ब्राउन द्वारा 4 फरवरी 1931 को महात्मा गांधी को पत्र लिखा गया। ब्राउन यह जानना चाहते थे कि आइंस्टीन ने सैनिकों से युद्ध में शामिल न होने की जो अपील की है, उस पर गांधी के क्या विचार हैं। यह सम्भवत: प्रथम अवसर था, जब गाधी और आइंस्टीन एक-दूसरे के विचारों पर सार्वजनिक रूप से चर्चा में संलग्न थे।

महात्मा गांधी ने 6 मई, 1931 को ब्राउन के पत्र का उत्तर देते हुए लिखा था - "मेरा विचार है कि प्रोफेसर आइंस्टीन का सुझाव तर्कसंगत है और यदि युद्ध में विश्वास न करने वालों के लिए युद्ध सम्बन्धी सेवाओं में शामिल होने से मना करना उचित माना जाता है, तो इससे अनिवार्य निष्कर्ष यही निकलता है कि युद्ध का प्रतिरोध करने वालों को कम से कम उनके साथ सहानुभूति तो रखनी ही चाहिए, भले ही उनमें अपने अन्त:करण के लिए कष्ट सहन करने वाले लोगों के उदाहरण पर स्वयं अमल कर सकने जितना साहस नहीं हो।" इसके सात महीने पश्चात लन्दन से लौटते हुए जब गांधीजी स्विटजरलैंड के शहर लोजान पहुँचे, तो

वहाँ 8 दिसम्बर 1931 को उनकी पहली सभा में ही लोगों द्वारा उनसे कई प्रश्न किये गये। इस सभा में उनसे पुन: किसी ने सीधे-सीधे आइंस्टीन के प्रश्न को लेकर वही प्रश्न किया - आइंस्टीन ने आह्वान किया है कि सैनिकों को युद्ध में भाग लेने से मना कर देना चाहिए, उनके इस आह्वान पर आपके क्या विचार हैं? इस प्रश्न के जवाब में गांधीजी ने कहा - "मेरा उत्तर केवल एक ही हो सकता है, यदि यूरोप इस तरीके को उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लेता है, तो मे यही कहूँगा कि आइंस्टीन ने मेरा तरीका चुरा लिया है, लेकिन आप यह चाहते हो कि मैं इस तरीके को विस्तार से समझाऊँ तो मुझे गहराई में उतरकर इसकी चर्चा करनी होगी।" 2 अक्टूबर 1944 को महात्मा गांधी के 75वें जन्मदिवस पर आइंस्टीन ने अपने सन्देश में लिखा था - "आने वाली नस्लें शायद मुश्किल से ही विश्वास करेंगी कि हाड़-मांस से बना हुआ कोई ऐसा व्यक्ति भी धरती पर चलता-फिरता था।" गांधीय दर्शन इस बात पर आधारित है कि सभी धर्मों, वर्गों और सम्प्रदायों को साथ लेकर आगे बढ़ा जाए। गांधीजी का सर्वधर्म समभाव और सभी धर्म-मजहबों की एकता पर आधारित था। सभी धर्म-मजहबों के गहन अध्ययन के पश्चात वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्म-मजहबों के सिद्धान्त एक ही हैं, अन्तर उनकी रूढ़ियों, कर्मकाण्डों और ऊपरी रीति-रिवाजों में है। उनका स्पष्ट मानना था - "एक समरसतायुक्त समाज में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता है तथा धर्मयुक्त राजनीति ही कल्याणकारी हो सकती है, धर्म शून्य राजनीति मौत के समान है।"[10]

देशवासियों को इस समय रोजगार, अच्छी शिक्षा, शुद्ध पर्यावरण, उत्तम स्वास्थ्य सुविधाएँ और अच्छी सड़कों की आवश्यकता है। बहस इस बात पर होनी चाहिए कि भटके युवाओं को सत्य और धर्म के मार्ग पर किस प्रकार चलने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। उन्हें रोजगार किस प्रकार उपलब्ध कराया जा सकता है। जाति और धर्म के नाम पर राजनीति करना देश और समाज के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता है। गांधीजी के अनुसार - "धर्म में नैतिकता का आधार होना चाहिए, नैतिक आधार के बिना जीवन अर्थहीन और निष्फल हो जाता है।" देश के युवाओं को गांधीवादी विचारधारा से परिचय कराया जाना चाहिए। विद्यालयों, महाविद्यालयों, सभाओं और सेमिनारों के माध्यम से समय-समय पर यह सन्देश देना चाहिए कि समरसतायुक्त समाज के निर्माण और निरन्तर शान्ति की स्थापना के लिए गांधीवादी दर्शन विश्व समुदाय के लिए परमावश्यक है। बी.एम. शर्मा के अनुसार - "गांधी दर्शन की यह विशिष्टता है कि बिना रक्त की एक बूँद बहाये वे एक ऐसा दर्शन प्रतिपादित करने में और उसे क्रियान्वित करने में सफल हुए, जिसने सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति ला दी।"[11] एक समरसतायुक्त समाज में शान्ति के साथ रहकर ही सबके विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है और आगे बढ़ा जा सकता है।

22 सितम्बर 2019 को अमेरिका के ह्यूस्टन शहर में आयोजित एक कार्यक्रम में अमरीकी सांसद स्टेनी हॉयर ने गांधीजी और पंडित जवाहरलाल नेहरू के विचारों की महत्ता का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया था कि अमरीका की भाँति भारत ने भी अपनी प्राचीन परम्पराओं को गांधी के सबक और पंडित नेहरू के विजन के माध्यम से एक सुरक्षित

लोकतन्त्र के रूप में बनाये रखा है। उनके द्वारा पंडित नेहरू के भारत की आजादी के समय 14-15 अगस्त 1947 की आधी रात को दिये गये ऐतिहासिक भाषण का भी स्मरण किया गया। उनके द्वारा महात्मा गांधी और पंडित नेहरू के प्रत्येक आँख से आँसू पोछने का भी उल्लेख किया गया। एक सशक्त भारत का सपना तभी साकार किया जा सकता है, जब सभी व्यक्तियों को सुखपूर्वक और अमन-चैन से रहने का वातावरण उपलब्ध कराया जाए। 'हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, आपस में सब भाई-भाई' के नारे की सार्थकता पर देश के नीति-नियन्ताओं द्वारा ध्यान केन्द्रित किया जाएगा। गांधीजी का मानना था कि प्रकृति में उपलब्ध सभी संसाधनों का समान वितरण हो और कोई व्यक्ति भूखा न सोए, इस बात को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण विश्व के समक्ष इस समय आतंकवाद भूखमरी, भ्रष्टाचार, बलात्कार, हिंसा और जनमानस को भ्रमित करने वाले जुमले जैसी समस्याएँ सुरसा के मुँह की भाँति विकराल रूप धारण किए हुए हैं। गांधीय दर्शन इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए ब्रह्मास्त्र सिद्ध हो सकता है। अब समय आ गया है कि सम्पूर्ण विश्व समुदाय बम-बारूद की नीति छोड़कर सत्य, अहिंसा और प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़े, स्वयं जीए और दूसरों को भी सम्मानपूर्वक जीने का अवसर उपलब्ध कराए।

सन्दर्भ

1. शर्मा, बी.एम. (2005) *भारतीय राजनीतिक विचारक,* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृ. 271
2. दाधीच, नरेश (2014) *महात्मा गांधी का चिन्तन,* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृ. 11
3. शर्मा, धर्मराज (2016) *ग्रामीण भारत के सशक्तिकरण की आवश्यकता,* विशेष सम्पादकीय, उपकार जगत, अलवर, राजस्थान, 11 जनवरी
4. बेग, ठाकुर दास (1665) *असली स्वराज्य,* सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 8
5. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली (1971) *गांधीजी का धर्म और राजनीति,* सस्ता साहित्य मण्डल, पृ. 12
6. शर्मा, गुंजन एवं कविता चौहान (2006) 'पंचायती राज अवधारणा : एक विहंगम दृष्टि तथा विकास कार्यक्रमों में जनभागिता', *कुरुक्षेत्र,* नई दिल्ली, अगस्त
7. शर्मा, धर्मराज (2019) *भारत निर्माण एवं मनरेगा,* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर पृ. 60
8. गांधी, महात्मा (1969) *ग्राम सेवा,* सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 10
9. मोदी, के.एम. (2012) 'भारत निर्माण ग्रामीण विकास का आधार', *कुरुक्षेत्र,* अक्टूबर, पृ. 32
10. गाधी, एम.के. (1955) *माई रिलीजन,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ. 3
11. शर्मा, बी.एम. (2009) *गांधी दर्शन के विविध आयाम,* राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 150

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 18-27)

भारतीय लोकतन्त्र एवं दलित प्रश्न के सन्दर्भ में डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सामाजिक-राजनीतिक विचारों का विश्लेषण

आकाश गौतम* एवं अजय कुमार†

प्रस्तुत शोध पत्र बाबासाहेब अम्बेडकर की विचार स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे पर आधारित है, लेकिन इन सिद्धान्तों को उन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति के नारों से नहीं वरन् बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से लिया था। उनके विचारों और इन सिद्धान्तों का भावनात्मक एवं बौद्धिक महत्व है। आदर्श सामाजिक संगठन, सम्बन्धित अवधारणा तीन मूल सिद्धान्तों - स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व पर अधारित है और इस तरह का समाज एक कल्याणकारी समाज होगा। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में नैतिक मूल्यों का अभिप्राय उन मूल्यों से है जो समाज मे स्थित मानव-प्राणियों के प्रति हमारे मन में सम्मान एवं समता, करुणा एवं मैत्री, सहयोग और समानुभूति जगाते हुए हमें इस योग्य बनाते हैं कि समतावादी समाज बनाने में सहायक हो सकें। डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक- राजनीतिक विचारों का अध्ययन ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक पद्धतियों से किया गया है।

*यूजीसी पोस्ट-डॉक्टोरल फैलो, सीआरसीएएस स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.
†शिमला स्थित भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में (2017-2019) फैलो रहे हैं तथा यहीं पर समाज विज्ञानों में दलित अध्ययनों की निर्मिति परियोजना पर एक फैलोशिप के काम कर चुके हैं.
E-mail: iiasajayk@gmail.com

भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सीधी कार्यवाही के रूप में खुला विद्रोह किया और इस आन्दोलन को समतावादी समाज बनाने का आन्दोलन बनाया। उन्होंने नारा दिया कि शिक्षित करो, आन्दोलित करो, संगठित करो। दलित मुक्ति उनके जीवन का लक्ष्य था। उनकी मान्यता थी कि जितनी जरूरत देश को आजादी की है, उससे कहीं अधिक जरूरत दलितों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक मुक्ति की है। इसलिये अम्बेडकर कहते थे कि राष्ट्र की आजादी के लिए संघर्ष करने की अपेक्षा दलितों की मुक्ति के लिए लड़ना मैं ज्यादा पसन्द करूँगा (अम्बेडकर, 1948)।

भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अनुपात में क्रमश: 15 प्रतिशत और 7.5 प्रतिशत यानी कुल 22.5 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया (बसु, 2006)। यह प्रतिशत सभी प्रकार के आरक्षणों - राजनीति अर्थात् राज्य विधानसभाओं और लोकसभा में आरक्षित स्थान, शैक्षिक अर्थात् उच्च शिक्षा केन्द्रों और संस्थाओं में आरक्षित स्थान तथा रोजगार सम्बन्धी आरक्षण अर्थात् सरकारी नौकरियों में आरक्षित पदों के लिए किया गया। जब भी आरक्षण निर्धारित संख्या से अधिक हो जाता है तो किसी भी नागरिक को न्यायालय जाने का अधिकार होगा और न्यायालय यह निर्णय ले सकता है कि राज्य अथवा केन्द्र सरकार ने आरक्षण पर जो निर्णय लिया है यह तर्कयुक्त है या नहीं।

सामाजिक न्याय को भारतीय संविधान की आत्मा के रूप में देखा गया। संविधान की प्रस्तावना में सामाजिक न्याय के मूल उद्देश्य से व्यापक उपाय किये गये हैं। ये सभी उपाय संवैधानिक दायरे के अन्तर्गत उद्धारपूर्ण हैं। संविधान में एक तो इन वर्गों की जो भी परम्परागत निर्योग्यताएँ थीं, उन्हें दूर किया गया है और इन्हें आरक्षण और संरक्षण प्रदान करने के लिए विशेष उपबन्ध भी दिये गये हैं। दूसरे, इन्हें शोषण व उत्पीड़न से बचाने के लिए आवश्यक रक्षा उपायों की व्यवस्था के अतिरिक्त उपयोगी विधानों के निर्माण का प्रावधान किया गया तथा तीसरे, उनके शैक्षिक तथा आर्थिक विकास के लिए विविध योजनाओं और कार्यक्रमों को लागू करने के लिए राज्य को स्पष्ट रूप से निर्देशित किया गया। इससे स्पष्ट है कि वर्षों से चले आ रहे दलित आन्दोलन को गांधी, अम्बेडकर और दलित समाज सुधारकों के माध्यम से सफलता भारतीय संविधान में आरक्षण और संरक्षा के प्रावधान के रूप में मिली। इससे दलित वर्ग - जिसे अनुसूचित जाति, जनजाति कहा गया है - को एक ऐसे समाज में जीने का अवसर मिला जो उसके सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा व्यक्तित्व विकास के हितों का पोषक है।

सामाजिक परिवर्तन के लिए डॉ. अम्बेडकर ने शान्ति और विधान जैसे कारकों की संस्तुति की। उनका विश्वास मनुष्यों के पुन: सुधार और हृदय परिवर्तन पर था। लेकिन इससे भी ज्यादा विश्वास संवैधानिक साधनों से लाये गये सामाजिक परिवर्तन पर था। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार वर्णव्यवस्था में परिवर्तन और सामाजिक न्याय के लिए कोई स्थान नहीं है। वर्णव्यवस्था ने ही जातिवाद को जन्म दिया जो सामाजिक एकता एवं सुदृढ़ता के विपरीत है।

वर्णव्यवस्था का आधुनिक भारतीय समाज में कोई स्थान नहीं रह गया है (अम्बेडकर, 1948)। बाबासाहेब अम्बेडकर ने भाईचारे पर आधारित विचार और सिद्धान्त बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से लिये थे। उनके विचारों और इन सिद्धान्तों का बहुत अधिक भावनात्मक एव बौद्धिक महत्व है। डॉ. अम्बेडकर मानव-प्राणियों के प्रति हमारे मन में सम्मान एवं समता, करुणा एवं मैत्री, सहयोग और समानुभूति जगाते हैं। डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन हिन्दू समाज में व्याप्त विकृतियों जैसे जातिप्रथा, वर्णाश्रम व्यवस्था, छुआछूत, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच, जन्म आधारित प्रतिष्ठा, असमानता तथा भेदभाव, शोषण और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह के रूप में दिखाई देता है। डॉ. अम्बेडकर ने वर्ण और जाति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की कड़ी आलोचना की। उनके अनुसार चतुर्वर्ण का सिद्धान्त प्लेटो के सामाजिक सिद्धान्त से बहुत मिलता-जुलता है।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार वर्णव्यवस्था ने ही जातिवाद को जन्म दिया, जो सामाजिक एकता एवं सुदृढ़ता के विपरीत है। वर्णव्यवस्था का आधुनिक भारतीय समाज में कोई स्थान नहीं रह गया है। सामाजिक सम्बन्धों की जड़ों में वर्णव्यवस्था ने चार वर्ण के लोगों के बीच एक स्तरीय उतार-चढ़ाव की असमानता स्थापित कर रखी है, जिसके अनुसार ब्राह्मण सबसे उच्च हैं, उससे नीचे क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य तथा निम्नतम स्तर पर शुद्र और दलित हैं। इसके अन्तर्गत यदि ऊपर की ओर जाओ तो सम्मान तथा आदर है और नीचे की ओर देखो तो घृणा-अनादर है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार वर्णव्यवस्था अथवा जातिप्रथा ने जनचेतना को नष्ट कर दिया है। जातिप्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असम्भव हो गया है।

वर्णव्यवस्था पर डॉ. अम्बेडकर

- जातिप्रथा ने हिन्दुओं को बर्बाद किया है।
- हिन्दू समाज को चतुर्वर्ण्य के आधार पर पुनर्गठित करना असम्भव है क्योंकि वर्णव्यवस्था रिसते हुए एक बर्तन की तरह है, या उस आदमी की तरह है जो नाक की नोक पर दौड़ रहा है। यह अपने गुणों के कारण अपने कोतटस्थ रखने में अक्षम है।
- हिन्दू समाज को ऐसे धर्म के आधार पर पुनर्गठित करना चाहिए जिसमें स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व के सिद्धान्त को मान्यता दी जाये।
- उक्त लक्ष्य को पाने के लिए जाति और वर्ण के पीछे धार्मिक पवित्रता की भावना को नष्ट किया जाना चाहिए।
- जाति और वर्ण की पवित्रता केवल तभी नष्ट हो सकती है जब शास्त्रों की दिव्य सत्ता को अलग कर दिया जाये।

जहाँ तक जाति व्यवस्था के उन्मूलन का प्रश्न है, डॉ. अम्बेडकर ने यह पाया कि अनेक समाज सुधारकों, विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने बहुत सारे सुझाव दिये हैं, जैसे -

उपजातियों को नष्ट करके जातियों की संख्या कम करना, फिर अपनी-अपनी उन बड़ी जातियों में मिल जाना जिनके साथ उनके रहन-सहन, खान-पान एवं शादी-विवाह की समानताएँ विद्यमान हैं। कुछ का कहना है कि अन्तर्जातीय भोजों द्वारा विभिन्न प्रकार की जातियों के साथ-साथ बैठकर प्रेमपूर्वक भोजन करने से परस्पर सौहार्द में वृद्धि होगी। कई विद्वानों ने अन्तर्जातीय भोजों द्वारा विभिन्न प्रकार की जातियों को साथ-साथ विवाहों को जातिप्रथा के उन्मूलन का सही आधार माना क्योंकि रक्त सम्बन्धों से ही स्वाभाविक एकता और पारिवारिक भागीदारी सम्भव हो सकती है। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने इन सब उपायों पर विचार करने के पश्चात् यह कहा कि ये सब उपाय अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए हैं। इसका कारण हिन्दुओं के दैवीय एवं पवित्र विश्वास तथा धारणाएँ हैं जो उन्हें उपजातियों को तोड़ने, अन्तर्जातीय भोज एव अन्तर्जातीय विवाह करने से रोकती है। वर्णव्यवस्था को अकाट्य, ईश्वरीय, पवित्र या दैवीय मानना जातिप्रथा की निरन्तरता का मूलाधार है, इसलिये डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा कि धार्मिक शास्त्रों के प्रति पवित्रता की भावना नष्ट की जाए क्योंकि हिन्दुओं के कर्म एवं व्यवहार उनकी धार्मिक धारणाओं के ही परिणाम हैं। शास्त्र मनुष्य को अमुक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिये जातिप्रथा को नष्ट करने के लिए शास्त्रीय मूल्य, आदर्शों, परम्पराओं, विश्वासों का उन्मूलन करना होगा (अम्बेडकर, 1948)।

एक आदर्श समाज संगठन के लिए डॉ. अम्बेडकर धार्मिक स्वतन्त्रता को भी महत्वपूर्ण स्थान देते थे। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म धारण एवं धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता दी जानी आवश्यक है। सभी नागरिकों को धार्मिक संस्थाएँ निर्मित करने का अधिकार भी होना चाहिए। किसी व्यक्ति या समुदाय के साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। सुखी वैयक्तिक जीवन और सामाजिक एकता के लिए डॉ. अम्बेडकर धर्म को अति आवश्यक मानते थे, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से 'राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप का ही समर्थन करते थे'। राज्य की दृष्टि में सभी धर्मावलम्बी समान होने चाहिए। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र की समृद्धि संगठन और शक्ति के लिए सभी प्रकार की स्वतन्त्रता के पक्ष में थे। बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर समता के सिद्धान्त को वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में महत्व देते थे। उन्होंने यह माना कि यदि सभी मनुष्य समान रूप से पैदा नहीं होते तो भी वह वैचारिक समता को महत्व देते। समता का आदर्श बिल्कुल काल्पनिक हो सकता है फिर भी व्यावहारिक रूप में समता की भावना को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अंग होना चाहिए (माइकल, 2009)।

"प्रत्येक व्यक्ति को आगे बढ़ने का अवसर दिया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो मनुष्यों को एक-दूसरे के साथ समता का व्यवहार करना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर ने यह भी कहा कि वे लोग जो बिना सुविधाओं के आगे नहीं बढ़ सकते, उन्हें आवश्यक रूप से सुविधाएँ दी जानी चाहिए। ऐसा कार्य न्याय तथा निष्पक्षता से किया जाये तो बहुत अच्छा होगा। परम्परावादी दृष्टिकोण के अनुसार भ्रातृत्व का अर्थ दान या दया है। ईसाई धर्म का

आदर्श है कि अपने पड़ोसियों से प्रेम करो अथवा प्राणी मात्र पर दया करो। मानव भ्रातृत्व की ओर संकेत करता है पर यह तभी सम्भव होगा जब मनुष्य ईश्वर में विश्वास करे। डॉ. अम्बेडकर ने भ्रातृत्व के इन अर्थों को नहीं माना और कहा कि भ्रातृत्व का आदर्श मुख्यत: सामाजिक है न कि ईश्वरवादी। उन्हीं के शब्दों में आदर्श समाज प्रगतिशील होना चाहिए।"

डॉ. अम्बेडकर ऐसा समाज चाहते थे जिसमें व्यक्ति विचार अभिव्यक्ति, आवागमन, शिक्षा, आत्मविकास तथा आजीविका का चुनाव कर सके। वो ऐसा समाज चाहते थे जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति के बीच जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेद न हो तथा सभी को शिक्षा आत्मविकास एवं व्यवस्था चुनने के अवसर की समानता हो। प्रजातान्त्रिक समाज का आधार काल्पनिक न होकर वास्तविक होना चाहिए। यह ठीक है कि प्रजातन्त्र में अनेक मौलिक भिन्नताएँ होती हैं पर वोट देना चुनाव करना और वैधानिक रूप मानना ही पर्याप्त नहीं है। वास्तविक रूप में प्रजातन्त्र में सभी की समान सम्मति होनी चाहिए न कि कुछ व्यक्तियों की। सभी की सम्मति मानकर ही प्रजातन्त्र में सुदृढ़ता हो सकती है अन्यथा प्रजातन्त्र अन्याय का साधन बन सकता है।

डॉ. अम्बेडकर का समस्त सामाजिक चिन्तन त्रयी आदर्शों में अन्तर्निहित रहा है। नवनिर्माण की प्रक्रिया पारस्परिक प्रेम, व्यवहारिकता, समानता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय एवं मानव बन्धुत्व का द्योतक है। उसमें अन्तर्निहित मानव मूल्य सार्वभौमिक एवं कालातीत हैं और सभी मानव प्राणियों को अपार शान्ति, सन्तोष और सम्मान प्रदान करने में सक्षम है। जो भी इन्हें व्यवहार में लायेगा और अनुकूल आचरण करेगा वह निश्चय ही लाभान्वित होगा और सामाजिक बन्धुत्व को भी समृद्ध बनायेगा।

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक जनतन्त्र लोकतान्त्रिक वैचारिकी पर आधारित है। लोकतान्त्रिक वैचारिकी में व्यक्ति शिक्षा, आत्मविकास और आजीविका के चयन में स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान उनका मुख्य उद्देश्य अछूतों तथा शोषितों के लिए मानवाधिकार प्राप्त करना और उन्हें सामाजिक मुक्ति दिलाना था। इसलिये डॉ. अम्बेडकर ने ऐसी सरकार का समर्थन किया जो जनता की हो, जनता के लिए हो और जनता द्वारा बनायी गयी हो। वे स्वतन्त्र विचारों, चिन्तन एवं अभिव्यक्ति के प्रेमी थे और प्रत्येक को अपने ढँग से रहने की सामाजिक आजादी चाहते थे। जनतन्त्र में केवल सुविधा प्राप्त लोगों को ही लाभ नहीं होना चाहिए, सभी को एक अच्छा जीवन सुलभ हो, ऐसी उनकी मान्यता थी। बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर ने न केवल समाज में आमूल परिवर्तन की बात की अपितु उसके लिए प्रयत्न भी किया। साउथ बारो सामिति एवं साइमन कमीशन के समक्ष दलितों के हितों का प्रस्तुतीकरण, गोलमेज सम्मेलनों में दलितों के लिए पृथक् निर्वाचन की माँग, अनुसूचित जाति फेडरेशन तथा इंडिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी के गठन के माध्यम से दलितों में राजनीतिक चेतना जाग्रत करना तथा पीपुल्स एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना के माध्यम से दलितों में शिक्षा के प्रसार से लेकर संविधान निर्माण एवं हिन्दू कोड बिल की रचना और जीवन के अन्तिम क्षणों में बौद्ध धर्म में दीक्षित होने तक की विभिन्न घटनाएँ डॉ. भीमराव अम्बेडकर के

संघर्षशील जीवन की परिचायक हैं। महात्मा ज्योतिबा राव फुले और डॉ. अम्बेडकर का स्पष्ट मानना था कि जब तक जाति एवं जाति को घोषित करने वाली परम्परात्मक हिन्दू वैचारिकी का अन्त नहीं होगा तब तक भारत में सामाजिक क्रान्ति पूर्ण रूप से सम्भव नहीं है। डॉ. अम्बेडकर के क्रान्तिकारी विचार नि:सन्देह इस दिशा में लोगों का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं। जिस अंश तक लोग अम्बेडकर के विचारों को अमल में लायेंगे, उस अंश तक भारत में सामाजिक क्रान्ति की सम्भावना होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने सामाजिक जनतन्त्र को अनेक पक्षों - आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक - से जोड़ा ताकि जनतान्त्रिक व्यवस्था से सभी नागरिकों को लाभ पहुँचे।

डॉ. अम्बेडकर का राजनीतिक दर्शन एक ऐसे राजनीतिक तन्त्र की रचना पर आधारित है जो सामाजिक न्याय की स्थापना तथा मानव अधिकार की रक्षा करे, व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सम्मान की रक्षा करे, निर्बल वर्गों की सबल वर्गों के शोषण एवं अन्याय से रक्षा करे, साथ ही यह निर्बल वर्गों के लिए विशेष संवैधानिक सुरक्षा तथा सुविधा का प्रावधान भी करे, जिससे उनकी स्थिति में सुधार हो और ये राष्ट्रीय विकास में भागीदार बन सकें।

डॉ. अम्बेडकर को पाश्चात्य समाजों के सामाजिक और राजनीतिक तन्त्र को निकट से देखने तथा उनके संविधान एवं कानून को ठीक से जानने और समझने का अवसर मिला। इससे उनके राजनीतिक चिन्तन को एक नयी दिशा प्राप्त हुई और सामाजिक न्याय एवं मानव अधिकार के लिए संघर्ष किया। इसलिये यह कहा जा सकता है कि डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक दर्शन पर उनके सामाजिक जीवन के अनुभवों का प्रभाव पड़ा।

डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के लिए जो संघर्ष किया और उनकी मुक्ति के लिए जो दर्शन प्रस्तुत किया है वह किसी जाति या वर्ण तक सीमित नहीं है। वे एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था चाह रहे थे, जिसमें धर्म, राज्य, सत्ता, पूंजीवाद, पौरोहित्यवाद, आदि द्वारा स्त्री और पुरुष का शोषण समाप्त हो जाये। उनके समग्र राजनीतिक विचारों के केन्द्र में मनुष्य है। इस मनुष्य की स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाले आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के विरोध में वे अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। उनका राजनीतिक दर्शन व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों से परस्पर अनुभव और विश्वास के साथ जुड़ा हुआ है।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने यह अनुभव किया कि जातिप्रथा का भारतीय राजनीति पर गहरा प्रभाव है। जातिप्रथा और लोकतान्त्रिक जीवन साथ-साथ नहीं चल सकते। डॉ. अम्बेडकर ने लोकतन्त्र को एक जीवन दर्शन के रूप में लिया (कीर, 2006)। लोकतन्त्र की उनकी अवधारणा विवेकपूर्ण अनुभवों पर आधारित है, जो व्यक्ति के सामाजिक अन्त:रसाकर्षण, राज्य के उपकरण, प्रकृति, मूल्यवाद, विधान के पीछे विधान, साधनों की कुलीनता, स्वीकृति में वाद-विवाद, निष्पक्ष कानूनों का अभाव और सभी मानवीय सम्बन्धों में समानता पर बल देती है। एक विवेकी अनुभववादी के रूप में उन्होंने टिप्पणी की थी - "कुछ भी निश्चित नहीं, कुछ भी शाश्वत नहीं है, कुछ भी सनातन नहीं है। प्रत्येक वस्तु बदल रही है और परिवर्तन ही मनुष्य और समाज का विधान है।"

डॉ. अम्बेडकर की लोकतन्त्र की अवधारणा विवेकवाद और अनुभववाद पर आधारित है। एक लोकतान्त्रिक व्यक्ति के रूप में डॉ. अम्बेडकर को विश्वास था कि मानवीय सत्य निरपेक्ष नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने अनुभवात्मक पद्धति पर बल दिया। उनका मत था कि मानवतावाद और अनुभववाद को मनुष्य के राजनीतिक जीवन को नियन्त्रित करना चाहिए। उनके अनुसार राजनीतिक लोकतन्त्र की चार मान्यताएँ हैं जो इस प्रकार हैं - व्यक्ति अपने आप में साध्य है और व्यक्ति के पास कुछ अधिकार हैं जिसकी सुनिश्चितता संविधान में होनी चाहिए। कोई विशेषाधिकार प्राप्त करने की पूर्व शर्त के रूप में किसी व्यक्ति से यह अपेक्षा न की जाये कि वह अपने संवैधानिक अधिकारों में से किसी अधिकार का परित्याग करे। राज्य दूसरों पर शासन करने के लिए गैर-सरकारी लोगों की शक्तियों को प्रत्यायोजित न करे।

इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर ने राज्य की तुलना में व्यक्ति को विशेष महत्व प्रदान किया। बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर राज्य और व्यक्ति के बीच सामंजस्य चाहते थे और राज्य के अधिनायक होने के विरूद्ध थे क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि सर्वाधिकार सम्पन्न होने से राज्य व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण करेगा, जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होगा और स्वतन्त्रता के अभाव में व्यक्ति का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जायेगा।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार राज्य साध्य नहीं है और न ही यह सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। यदि राज्य को साध्य मान लिया जाता है तो इससे उसे सम्पूर्ण मानव जीवन को नियन्त्रित करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, जो गलत तो है ही, व्यवहारिक रूप से सम्भव नहीं है। वास्तव में राज्य मानव लक्ष्य की प्राप्ति और अच्छे समाज की स्थापना का एक साधन है। राज्य को व्यक्ति एवं समाज के हितों का सेवन एक मालिक के रूप में नहीं बल्कि एक नौकर की भाँति करना चाहिए।

डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि राज्य ने व्यक्ति का निर्माण नहीं किया है और न ही व्यक्ति राज्य का दास है (जेफरलाट, 2003)। इसलिये राज्य को सर्वाधिकार प्रदान करना ठीक नहीं है। राज्य को व्यक्ति पर कतिपय अधिकार प्रदान करना आवश्यक है परन्तु यह अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके मौलिक अधिकारों की रक्षा के पूरक के रूप में होने चाहिए न कि इनके विरुद्ध। चूंकि व्यक्ति ने राज्य का निर्माण किया है इसलिये राज्य का यह दायित्व है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा, सम्मान और गरिमा को बनाये रखे।

राज्य व्यवस्था की सुदृढ़ता के लिए जनता में सम्मान एवं सद्भावना का होना आवश्यक है। डॉ. अम्बेडकर ने जनता की भलाई के लिए राज्य व्यवस्था को अत्यन्त आवश्यक बताया। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि सभी नागरिक राज्य के कानूनों तथा नियमों के प्रति आज्ञापालन की भावना बनाये रखें। डॉ. अम्बेडकर की मान्यता थी कि राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्ति एवं समाज की स्थिति को सुधारना है। राज्य व्यवस्था की अनिवार्यता

एवं सामर्थ्य में अटूट विश्वास प्रकट करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि राज्य व्यवस्था के कार्य इस प्रकार होने चाहिए -

1. प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने, स्वतन्त्रता तथा आनन्द के अधिकारों को बनाये रखना राज्य का काम है।
2. विचार एवं उसको व्यक्त करने तथा धर्म की स्वतन्त्रता बनाये रखना राज्य का काम है।
3. सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक असमानताओं को दूर करना और शोषित वर्गों को सुविधाएँ देना राज्य का काम है।
4. प्रत्येक नागरिक के लिए यह सम्भव करना कि वह भूख, प्यास तथा भय से मुक्त रहे, राज्य का काम है (अम्बेडकर, 1948)।

सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित कोई भी कानून ऐसे लोगों की राय से ही बनाया जाता है जो जनता द्वारा चुने गये हैं। संसदीय लोकतन्त्र में कानून संसद में जनता के चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा ही बनाये जाते हैं। राजशाही की भाँति इस प्रणाली में किसी एक व्यक्ति के पास सत्ता नहीं होती, जो कानून बनाने, सरकार चलाने तथा सब कुछ जानने का दावा कर सकता है। वास्तविक सत्ता जिन प्रतिनिधियों के हाथ में होती है, उन्हें एक निर्धारित अवधि के पश्चात जनता का पुन: विश्वास प्राप्त करना होता है। ब्रिटेन में पहले सात वर्ष के पश्चात चुनाव होता था, किन्तु बाद में पाँच वर्षों के उपरान्त होने लगा।

संसदीय सरकार केवल वाद-विवाद में चलने वाली सरकार नहीं वरन् इससे बहुत अधिक है। विरोधी पक्ष एवं निष्पक्ष चुनाव इसके आधार स्तम्भ हैं जिन पर यह व्यवस्था टिकी हुई है। राजनीतिक प्रजातन्त्र राज्य में स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के सिद्धान्तों के आधार पर राजनीतिक सम्बन्धों के नियमन एवं राजनीतिक गतिविधियों के संचालन की एक विधि है। यद्यपि, प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व तीनों ही तत्वों का होना आवश्यक है। लोकतन्त्र केवल एक शासन प्रणाली नहीं है, वरन् जीवन जीने का एक ढंग है जिसके द्वारा सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती है (वर्मा, 1998)। उनके अनुसार - "एक लोकतान्त्रिक सरकार पूर्व मान्यतानुसार एक लोकतान्त्रिक समाज है। लोकतन्त्र के औपचारिक ढाँचे का कोई मूल्य नहीं है। वास्तव में यह अनुपयुक्त होगा, यदि सामाजिक लोकतन्त्र नहीं है। राजनीतिज्ञों ने वास्तव में यह कभी महसूस नहीं किया कि लोकतन्त्र वास्तव में एक शासन प्रणाली नहीं है, बल्कि यह समाज का एक स्वरूप है।

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के लिए व्यक्ति का स्थान सर्वोपरि था। समाज और राज्य उनके लिए गौण थे। वे व्यक्ति के अधिकार, नैतिकता और वैधानिक क्रिया-कलापों की राज्य के अधिनायकवादी अधिकारों से तथा समाज की त्रुटिपूर्ण संरचना से सुरक्षित रखना चाहते थे। राज्य और समाज की रक्षा के लिए समाज के बेहतर भविष्य के लिए ठीक ढंग से काम करना है तो उसके सामाजिक जनतन्त्र के आवश्यक तत्व प्रेम, स्वतन्त्रता, ईमानदारी, आत्मसम्मान, शान्ति, न्याय, समता और भाईचारा है (मैसे, 1999)। यही आवश्यक प्रत्यय हैं जिनके आधार

पर डॉ. अम्बेडकर ने भलाई की अवधारणा विकसित की है। वे यह भी नहीं चाहते कि नैतिकता, कानून और धर्म व्यक्ति के शोषण के हथियार बन जाएँ।

भारत में विशेषकर हिन्दू समाज में विद्यमान सामाजिक अन्याय ने ही डॉ. अम्बेडकर को सामाजिक न्याय के स्वरूप और विषय पर चिन्तन करने के लिए बाध्य कर दिया। जहाँ सभी क्षेत्रों में अन्याय, शोषण तथा उत्पीड़न होगा, वहीं न्याय की धारणा उद्‌भूत होगी। अम्बेडकर तो स्वयं सामाजिक न्याय के अग्रदूत थे। उन्होंने न्याय की परिभाषा इस प्रकार दी है - "न्याय सामान्यत: स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का दूसरा नाम ही है।" उनके समाजिक न्याय की धारणा का यही आधारभूत विचार है। वह मानव व्यक्तित्व की गरिमा में अन्तर्निहित विचार है जिसे उन्होंने संविधान का मुख्य निर्माता होने के नाते न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, भातृत्व भाव और आदमी की गरिमा के मूल्यों पर निर्धारित किया है ।

निष्कर्ष

सामाजिक न्याय की धारणा एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित स्थान मिलना चाहिए। लेकिन उचित स्थान का तात्पर्य यहाँ जन्म धारित सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं है। डॉ. अम्बेडकर की सामाजिक धारणा के मुख्य तत्व इस प्रकार हैं - सम्मानपूर्वक रहें और रहने दें, सभी को मान-सम्मान मिले, किसी के प्रति हिंसा न की जाए, स्थायी अथवा तथाकथित स्वाभाविक वर्गों में बाँटे बिना प्रत्येक को अपना विवेकपूर्ण हिस्सा मिले। संवैधानिक शासन के प्रति निष्ठापूर्वक रहना, विधि के समक्ष समता, समान अधिकारों की स्वीकृति, संवैधानिक कर्तव्यों का निर्वाह, सामाजिक दायित्वों और विधिक कर्तव्यों की अनुपालना, बेगारी तथा भूखमरी से बचाव, कुछ प्राथमिकताओं सहित सभी को समान अवसरों की सुलभता, सम्पत्ति, शिक्षा की उपलब्धता और अन्तत: न्याय, स्वतन्त्रता, समता, भ्रातृत्व तथा राष्ट्रीय एकता सहित मानव व्यक्तित्व की गरिमा। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध भारत की अखण्डता से है अर्थात् भारत में रहने वाले सभी नागरिक भाई-भाई हैं। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर के अनुसार सामाजिक न्याय का विचार लोगों में मात्र राष्ट्रीय, भौतिक लाभों का न्यायोचित वितरण ही नहीं है, अपितु वह मूलत: ऐसी जीवन पद्धति का समर्थक है जो पारस्परिक मान-सम्मान, मैत्रीभाव और राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में न्यायोचित भागीदारी पर आधारित है।

सन्दर्भ

1. जे.एच. हट्टन (1971) *भारत मे जातिप्रथा,* मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
2. घुर्ये, जी.एस. (1979) *कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया,* पॉपुलर पब्लिकेशन, मुम्बई
3. अम्बेडकर, बी.आर. (1991) *अछूत कौन अभी कैसे,* ललई यादव ट्रस्ट, कानपुर
4. जेम्स मैसे (1999) *दलित्स इन इंडिया,* मनोहर प्रकाशन, दिल्ली

5. अय्यर, वी.आर. कृष्णा (1976) *सोशल मिशन आफ लॉ,* ओरियन्ट लाँगमैन, मद्रास

6. माइकल, एस.एम. (2009) *दलित्स इन माडर्न इण्डिया: विजन एण्ड वैल्यूज,* विस्तार पब्लिकेशन, नई दिल्ली

7. कीर, धनंजय (2006) *बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर जीवन और मिशन,* पापुलर पब्लिकेशन, मुम्बई

8. शाह, घनश्याम (2005) *दलित आइडेन्टिटी एण्ड पॉलिटिक्स,* सेज प्रकाशन, दिल्ली

9. वर्मा, वी.पी. (1998) *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन,* लक्ष्मी नारायण प्रकाश, आगरा

10. अम्बेडकर, बी.आर. (1948) *डॉ. अम्बेडकर, राइटिंग एण्ड स्पीच,* वॉल्यूम 1, गवर्नमेन्ट पब्लिकेशन, बॉम्बे

11. कविराज, (2006), *लखनऊ जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज,* वॉल्यूम 3, नं. 1, जनवरी-जून, लखनऊ विश्वविद्यालय

12. क्रिस्टोफर, जेफरलाट (2003) *इंडिया साइलेण्ट रिवोल्यूशन : द राइज ऑफ द लो कॉस्ट्स इन नॉर्थ इण्डियन पॉलिटिक्स,* परमानेन्ट बेलॉक, दिल्ली

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 28-35)

स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों के विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के आयाम: आत्मविश्वास का विश्लेषणात्मक अध्ययन

स्मिता भवालकर*, दीपा बैद्य† एवं रेखा चोर्डिया‡

प्रस्तुत अध्ययन स्वैच्छिक संगठन द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों के विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के आयाम आत्मविश्वास का विश्लेषणात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। प्रस्तुत अध्ययन में पाँच स्वयंसेवी संस्थाओं - एकलव्य शैक्षिक शोध एवं नवाचार संस्थान, मध्यप्रदेश मुस्लिम एज्युकेशनल सोसायटी, सरस्वती विद्या मन्दिर बाल संस्कार केन्द्र, कृपा वेलफेयर सोसायटी एवं सेवाभारती बाल संस्कार केन्द्र से 405 विद्यार्थियों को न्यादर्श के रूप में लिया गया। प्रदत्तों का विश्लेषण 5 x 2 कारकीय अभिकल्प सहप्रसरण के विश्लेषण के द्वारा किया गया एवं आत्मविश्वास के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन के लिए सांख्यिकीय पद्धति से मानों की गणना की गई। उक्त शोध पत्र निदर्शन में सम्मिलित पाँचों शिक्षण संस्थाओं के विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पक्ष का विश्लेषण एवं व्याख्या करता है।

*प्राचार्य, सरस्वती शिक्षा महाविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)
†शोधार्थी, शिक्षा संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)
‡शोधार्थी, शिक्षा संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

औपचारिकेतर शिक्षा में औपचारिक शिक्षा की जटिलता, रूढ़िवादिता, औपचारिकता आदि नहीं रहती। इसमें औपचारिक शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, मूल्यांकन, आदि तो हैं परन्तु समय, स्थान तथा प्रवेश आदि के नियम लचीले होते हैं। इसका संगठन और व्यवस्था, शिक्षक एवं शासन की सुविधानुसार न करके विद्यार्थियों की सुविधानुसार किया जाता है। विद्यार्थी अपने घर-गृहस्थी तथा रोजी-रोटी के कार्य करते हुए भी पढ़ सकता है। औपचारिकेतर शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा के पूरक का कार्य तो करती ही है किन्तु कभी-कभी औपचारिक शिक्षा का विकल्प बनकर एक कार्योन्मुखी, लचीली, अल्प व्यय साध्य, अल्प समय में सम्पन्न होने वाली पूरक शिक्षा पद्धति का कार्य भी करती है। यह उन लोगों को शिक्षा का अवसर प्रदान करती है, जिन्हें औपचारिक शिक्षा ने अपनी सीमाओं के कारण उपेक्षित छोड़ दिया है, जैसे - गरीब, अंशकालीन, शालात्यागी बालक, आदि। औपचारिकेतर शिक्षा स्पर्धाहीन और खुले लक्ष्यों पर आधारित शिक्षा है।

शोध की आवश्यकता

स्वैच्छिक संगठनों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में विशेष रूप से संचालित औपचारिकेतर शिक्षणों में आने वाले विद्यार्थियों के द्वारा विभिन्न क्रियाकलाप कराये जाते हैं जिससे इन विद्यार्थियों में सामान्य जागरूकता विकसित हो सके। राष्ट्र के उत्थान की दृष्टि से यह आवश्यक है कि ऐसे शिक्षण में आने वाला बड़ा वर्ग भी इसमें अपना सकारात्मक योगदान दे और यह तभी सम्भव है जब इनके लिए किये जाने वाले प्रयत्न सुनियोजित और सुविचारित हों। इस दृष्टि से आवश्यक लगता है कि इन केन्द्रों में आने वाले विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में होने वाले परिवर्तनों का शैक्षिक विश्लेषण किया जाए। उक्त शोध पत्र इसी पर केन्द्रित है।

पारिभाषिक शब्द

स्वैच्छिक संगठन

सामूहिक उद्देश्य से बिना किसी लाभ की भावना से गठित कोई भी ऐसी संस्था जो लोकतान्त्रिक आधार पर पारदर्शिता के साथ बिना किसी भेदभाव के जनहित का कार्य करे, उसे स्वैच्छिक संगठन कहा जाता है।

औपचारिकेतर शिक्षा

वार्ड और डेटानी (1974) के अनुसार "औपचारिकेतर शिक्षा एक ऐसी सुनियोजित शिक्षा योजना है जो दोनों प्रकार की नियमगत कार्य-प्रणाली को अपनाते हुए लचीले वातावरण में निर्दिष्ट नीति द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति करती है" (भार्गव एवं राजपूत, 1985)।

व्यक्तित्व

वाल्टर मिसकेल (1981) के अनुसार "प्राय: व्यक्तित्व से तात्पर्य व्यवहार के उस विशिष्ट पैटर्न (जिसमें चिन्तन एवं संवेग भी सम्मिलित है) से होता है जो प्रत्येक व्यक्ति के जिन्दगी की परिस्थितियों के साथ होने वाले समायोजन का निर्धारण करता है" (सिंह, 2006)।

आत्मविश्वास

सनसनवाल एवं भवालकर (1992) के अनुसार "आत्मविश्वास व्यक्ति की स्वयं की योग्यता में विश्वास है, जो व्यक्ति विशेष को अपने निर्णयों में विश्वास करने एवं स्वयं को अधीन न मानकर स्वयं के अनुरूप कार्य करने के योग्य बनाती है।"

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध कार्य के लिए निर्धारित उद्देश्य इस प्रकार हैं - विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों के संगठनात्मक वातावरण का उनमें अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर प्रभाव का अध्ययन करना; विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर लिंग के प्रभाव का अध्ययन करना; एवं विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर संगठनात्मक वातावरण एवं लिंग की अन्तर्क्रिया के प्रभाव का अध्ययन करना।

न्यादर्श

प्रदत्त संग्रह हेतु कक्षा 6 से 10 के 405 विद्यार्थियों का न्यादर्श लिया गया। विद्यार्थी 10 से 17 वर्ष आयु समूह के थे। उज्जैन जिले के औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों का न्यादर्श हेतु यादृच्छिक रूप से चयन किया गया। न्यादर्श का विवरण, औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों एवं लिंग के अनुसार तालिका क्रमांक 1 में दिया गया है।

तालिका क्रमांक 1

औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों में अध्ययनरत विद्यार्थियों का विवरण

क्र.	संस्था	विद्यार्थी
1	एकलव्य शैक्षकि शोध नवाचार संस्थान (ए.शै.शो.न.सं.)	96
2	मध्यप्रदेश मुस्लिम एज्युकेशनल सोसायटी (म.मु.ए.सो.)	99
3	सरस्वती विद्या मन्दिर उच्चतर माध्यमिक विद्यालय द्वारा संचालित संस्कार केन्द्र (स.वि.मं.सं.के.)	50
4	कृपा वेलफेयर सोसायटी (कृ.वे.सो.)	94
5	सेवाभारती बाल संस्कार केन्द्र (से.बा.सं.के.)	66

उपकरण

प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त किये गये उपकरण का विवरण -

संगठनात्मक वातावरण तालिका

संगठनात्मक वातावरण के मापन के लिए शोधकर्ता द्वारा संगठनात्मक वातावरण तालिका का उपयोग किया गया। संगठनात्मक वातावरण तालिका का निर्माण सोमनाथ चट्टोपाध्याय एवं के.जी. अगरवाल (1976) द्वारा किया गया है।

आत्मविश्वास तालिका

आत्मविश्वास के मापन के लिए रेखा अग्निहोत्री (1986) द्वारा निर्मित प्रमापीकृत अग्निहोत्री आत्मविश्वास तालिका का प्रयोग किया गया।

प्रदत्त विश्लेषण

उद्देश्य आधारित प्रदत्तों का विश्लेषण करने हेतु प्रयुक्त सांख्यिकीय का विवरण इस प्रकार है -

- विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों के कुल संगठनात्मक वातावरण की तुलना के लिऐ एकदिशीय प्रसरण का विश्लेषण किया गया।
- आत्मविश्वास पर संगठनात्मक वातावरण, लिंग एवं इनकी अन्तर्क्रिया के प्रभाव के अध्ययन के लिए 5 x 2 कारकीय अभिकल्प सहप्रसरण का विश्लेषण किया गया। व्यक्तित्व के आयाम आत्मविश्वास के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन के लिए M (मध्यमान), SD (मानक विचलन) एवं t (टी-टेस्ट) के मानों की गणना की गई।

परिणाम

प्राप्त प्रदत्तों का उल्लिखित सांख्यिकीय के आधार पर विश्लेषण तालिका क्रमांक 2 में प्रस्तुत है -

तालिका क्रमांक 2

औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों के विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर संगठनात्मक वातावरण, लिंग एवं इनकी अन्तर्क्रिया के प्रभाव के अध्ययन के लिए 5 x 2 कारकीय अभिकल्प सहप्रसरण के विश्लेषण का सारांश

Source	df	Sum of Squares	Mean Square	F
Org.	4	2985.69	746.422	7.961**
Gender	1	590	590	6.293*
Org. x Gen	4	526.538	131.635	1.404
Error	395	36941.1	93.759	
Corrected	404	41108.3		

** = .01 स्तर पर सार्थक * = .05 स्तर पर सार्थक

उद्देश्य क्रमांक 1 संगठनात्मक वातावरण का उनमें अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर प्रभाव का अध्ययन करना था। प्रस्तुत उद्देश्य के सन्दर्भ में उल्लिखित सांख्यिकीय का विश्लेषण प्रस्तुत है -

तालिका क्रमांक 2 के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों के संगठनात्मक वातावरण के लिए F का मान 7.96 है जो 4/404 df पर .01 स्तर पर सार्थक पाया गया। अत: कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों (ए.शै.शो.न.सं., म.मु.ए.सो., स. वि.मं.स.के., कृ.वे.सो. एवं से.बा.सं.के.) के संगठनात्मक वातावरण का उनमें अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर सार्थक प्रभाव पाया गया। अत: अध्ययन की शून्य परिकल्पना 'भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों के संगठनात्मक वातावरण का उनमें अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास स्तर पर सार्थक प्रभाव नहीं पाया जाएगा' निरस्त की जाती है।

इस अन्तर के विस्तृत अध्ययन के लिए पृथक्-पृथक् तुलना की गई जिनका विवरण तालिका क्रमांक 3 में प्रस्तुत है -

तालिका क्रमांक 3

विद्यार्थियों के आत्मविश्वास स्तर का तुलनात्मक अध्ययन

Org.	N	Mea	S.D.	t-value
ए.शै.शो.न.सं.	96	23.97	10.6	3.90**
म.मु.ए.सो.	99	18.44	9.12	
ए.शै.शो.न.सं.	96	23.97	10.6	0.01
स.वि.मं.स.के.	50	23.94	8.38	
ए.शै.शो.न.सं.	96	23.97	10.6	0.61
कृ.वे.सो.	94	24.94	11.3	
ए.शै.शो.न.सं.	96	23.97	10.6	1.19
से.बा.सं.के.	66	25.79	7.53	
म.मु.ए.सो.	99	18.44	9.12	3.56**
स.वि.मं.स.के.	50	23.94	8.38	
म.मु.ए.सो.	99	18.44	9.12	4.39**
कृ.वे.सो.	94	24.94	11.3	
म.मु.ए.सो.	99	18.44	9.12	5.41**
से.बा.सं.के.	66	25.79	7.53	
स.वि.मं.स.के.	50	23.94	8.38	0.55
कृ.वे.सो.	94	24.94	11.3	
स.वि.मं.स.के.	50	23.94	8.38	1.24
से.बा.सं.के.	66	25.79	7.53	
कृ.वे.सो.	94	24.94	11.3	0.52
से.बा.सं.के.	66	25.79	7.53	

** = .01 स्तर पर सार्थक

तालिका क्रमांक 3 में दिये गये t के मानों से स्पष्ट होता है कि ए.शै.शो.न.सं. के विद्यार्थियों का आत्मविश्वास म.मु.ए.सो. के विद्यार्थियों के आत्मविश्वास से बेहतर पाया गया। जबकि म.मु.ए.सो. के विद्यार्थियों का आत्मविश्वास स.वि.सं.के., कृ.वे.सो. एवं से.बा.सं.के. के विद्यार्थियों से बेहतर पाया गया।

आत्मविश्वास स्तर पर लिंग के प्रभाव का विश्लेषण तालिका क्रमांक 4 में दिया गया है -

तालिका क्रमांक 4

आत्मविश्वास पर लिंग के प्रभाव का अध्ययन

संस्था	ए.शै.शो.न.सं.	म.मु.ए.सो.	स.वि.मं.सं.के.	कृ.वे.सो.	से.बा.सं.के.
छात्र	20.6	15.31	23.12	24.51	28
छात्राएँ	25.5	20.15	24.51	25.38	25.43

उद्देश्य क्रमांक 2 आत्मविश्वास पर लिंग के प्रभाव का अध्ययन करना था। प्रस्तुत उद्देश्य के सन्दर्भ में तालिका क्रमांक 2 से स्पष्ट होता है कि आत्मविश्वास पर लिंग के प्रभाव के लिए F का मान 6.293 है जो 1/404 df के लिए .05 स्तर पर सार्थक पाया गया। अत: अध्ययन की शून्य परिकल्पना 'भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों के शिक्षण केन्द्रों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर लिंग का सार्थक प्रभाव नहीं पाया जाएगा' निरस्त की जाती है। अत: कहा जा सकता है कि लिंग के आधार पर विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों (ए. शै.शो.न.सं., म.मु.ए.सो., स.वि.म.स.के., कृ.वे.सो. एवं से.बा.स.के.) में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास स्तर में सार्थक भिन्नता परिलक्षित हुई। साथ ही मध्यमानों की तुलना का विश्लेषण तालिका क्रमांक 4 में प्रस्तुत है जिससे स्पष्ट होता है कि ए.शै.शो.सं., म.मु.ए.सो., स.वि.मं.सं.के. एवं कृ.वे.सो. में छात्रों का आत्मविश्वास छात्राओं के आत्मविश्वास स्तर से बेहतर पाया गया, जबकि से.बा.सं.के. में छात्राओं का आत्मविश्वास छात्रों के आत्मविश्वास से बेहतर पाया गया।

उद्देश्य क्रमांक 3 आत्मविश्वास पर संगठनात्मक वातावरण एवं लिंग की अन्तर्क्रिया के प्रभाव का अध्ययन करना था। प्रस्तुत उद्देश्य के सन्दर्भ में सांख्यिकीय विश्लेषण तालिका क्रमांक 2 में दिया गया है एवं उससे स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों के संगठनात्मक वातावरण एवं लिंग की अन्तर्क्रिया के लिए F का मान 1.40 है जो 4/404 df के किसी भी स्तर पर सार्थक नहीं पाया गया। अत: अध्ययन की शून्य परिकल्पना 'भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों के द्वारा संचालित औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों के संगठनात्मक वातावरण एवं लिंग की अन्तर्क्रिया का विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर सार्थक प्रभाव नहीं पाया जाएगा' स्वीकृत की जाती है। अत: कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों ए.शै.शो.न.सं., म.मु.ए.सो., स.वि.मं.सं.के., कृ.वे.सो. एवं से.बा.सं.के.

में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर संगठनात्मक वातावरण एवं लिंग की अन्तर्क्रिया का सार्थक प्रभाव नहीं पाया गया।

निष्कर्ष

शोध के उद्देश्यों के अनुसार प्राप्त परिणामों के आधार पर अग्रांकित निष्कर्ष प्राप्त हुए -

- ए.शै.शो.न.सं. के विद्यार्थियों का आत्मविश्वास म.मु.ए.सो. क विद्यार्थियों के आत्मविश्वास से बेहतर पाया गया। जबकि म.मु.ए.सो. के विद्यार्थियों का आत्मविश्वास स.वि.मं.सं.के., कृ.वे.सो. एवं से.बा.सं.के विद्यार्थियों से बेहतर पाया गया।
- ए.शै.शो.न.सं., म.मु.ए.सो., स.वि.मं.सं.के. एवं कृ.वे.सो. में छात्रों का आत्मविश्वास छात्राओं के आत्मविश्वास स्तर से बेहतर पाया गया जबकि से.बा.सं. के. में छात्राओं का आत्मविश्वास छात्रों के आत्मविश्वास से बेहतर पाया गया।
- भिन्न भिन्न स्वैच्छिक संगठनों ए.शै.शो.न.सं., म.मु.ए.सो., स.वि.मं.सं.के., कृ.वे. सो. एवं से.बा.सं.के. में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर संगठनात्मक वातावरण एवं लिंग की अन्तर्क्रिया का सार्थक प्रभाव नहीं पाया गया।

विवेचना

प्रस्तुत शोध में आत्मविश्वास के मापन के लिए प्रयुक्त आत्मविश्वास तालिका (गुप्ता, 1986) के अनुसार निर्णय लेने की क्षमता, बहिर्मुखता, प्रत्येक परिस्थिति में समायोजन करने की क्षमता, एकाग्रता, मित्रवत व्यवहार, काम करने की पहल करने का स्वभाव और तनाव न लेने की प्रवृत्ति आदि गुण आत्मविश्वास के घटक माने गये हैं। व्यक्ति के आस-पास का वातावरण इन गुणों के विकास में सहायक होता है। भिन्न-भिन्न संस्थाओं के संगठनात्मक वातावरण की संगठनात्मक संरचना में अन्तर पाया गया। अत: स्वाभाविक है कि भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास का स्तर भी सार्थक रूप से भिन्न पाया गया।

वर्तमान समय में बालक एवं बालिकाओं के पालन-पोषण में पालकों के द्वारा समान महत्व दिया जाता है, परन्तु औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों में आने वाले विद्यार्थी जिस सामाजिक-आर्थिक स्तर से आते हैं उनमें बालकों का आत्मविश्वास बालिकाओं के आत्मविश्वास से बेहतर पाया गया, जो दर्शाता है कि आज भी निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर के क्षेत्रों में बालकों के पालन-पोषण में बालिकाओं के पालन पोषण से अधिक महत्व दिया जाता है, जो बालकों के आत्मविश्वास को बढ़ाता है। प्रस्तुत शोध कार्य में लिंग का भी आत्मविश्वास पर सार्थक प्रभाव पाया गया। औपचारिकेतर शिक्षण केन्द्रों में आने वाले छात्रों का आत्मविश्वास छात्राओं के आत्मविश्वास की अपेक्षा उच्चस्तरीय पाया गया।

भिन्न-भिन्न स्वैच्छिक संगठनों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर संगठनात्मक वातावरण लिंग एवं इनकी अन्तर्क्रिया का सार्थक प्रभाव नहीं पाया गया। कहा जा सकता है कि संगठनात्मक वातावरण एवं लिंग के आधार पर विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर परस्पर अन्तर्क्रिया के रूप में कोई प्रभाव नहीं दर्शा सके।

उपसंहार

विविध स्वैच्छिक संगठन समाज के निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर के विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास के लिए कार्यरत हैं। इस प्रकार वे समाज के प्रति अपने दायित्व के प्रति सजग हैं।

प्रस्तुत शोध कार्य के परिणामों के आधार पर कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास को संस्था का संगठनात्मक वातावरण प्रभावित करता है। अत: किसी स्वैच्छिक संस्था को अपने केन्द्रों पर अध्ययनरत विद्यार्थियों के सन्तुलित विकास के लिए अनुकूल वातावरण देने का प्रयास करना चाहिए। प्रस्तुत शोध कार्य में व्यक्तित्व के प्रमुख भावात्मक पक्ष आत्मविश्वास का अध्ययन किया गया। इस सन्दर्भ में प्राप्त परिणाम भी संस्थाओं के वातावरण की भिन्नता को रेखांकित करते हैं।

सन्दर्भ

अग्निहोत्री, आर. (1986), *सेल्फ कॉन्फिडेंस इन्वेन्टरी,* नेशनल सायकोलॉजी कॉर्पोरेशन, आगरा.

चट्टोपाध्याय, एस. एवं अग्रवाल, के.जी. (1976), *ऑर्गेनाइजेशनल क्लाइमेट इन्वेन्टरी,* नेशनल सायकोलॉजी, कॉर्पोरेशन, आगरा.

सनसनवाल एवं भवालकर (1992), *प्रिडिक्शन ऑफ साइंटिफिक क्रियेटिविटि थ्रू कॉग्नीटिव एंड अफेक्टिव वेरिएबल्स अमंग हाई स्कूल स्टूडेंट्स,* भवालकर, स्मिता की पी.एच्डी. (शिक्षा) के शोध-प्रबन्ध में उद्धृत, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर, पृ. 89.

ट्रेवर्स, रॉबर्ट, एम.डब्ल्यू. (1973), *एज्यूकेशनल सायकोलॉजी,* मेक्मिलन, न्यू यॉर्क.

वाल्टर, मिसकेल (1981), 'इन्ट्रोडक्शन टू पर्सोनेलिटी', *व्यक्तित्व का मनोविज्ञान* (एस.के. अरुण एवं एस. के. आशीष, 2006), मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली.

वार्ड एवं डेटानी (1974), *औपचारिकेतर शिक्षा और क्रियान्वयन* (भार्गव एवं राजपूत, 1985), विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृ. 11.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 36-55)

कृषि : भारतीय अर्थव्यवस्था में योगदान, चुनौतियाँ एवं समाधान

लखन चौधरी*

आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका, कृषि का महत्व एवं कृषि के योगदानों की चर्चा विकास अर्थशास्त्र के मुख्य सरोकारों में सदैव उल्लेखनीय रहा है। इस विषय पर पिछली कई सदियों से अध्ययन, शोध, परिचर्चाएँ होती रहीं हैं। कृषि की परम्परागत भूमिका मुख्यत: खाद्य सामग्रियों के साथ रोजगार उपलब्धता, निर्यात आय अर्जन करने, निवेश के लिए बचत करने, कृषि प्रसंस्करण उद्योगों के लिए प्राथमिक कच्चे माल का उत्पादन एवं उपलब्धता तक सीमित थी। परन्तु अब कृषि की समकालीन भूमिका इससे बहुत आगे निकल चुकी है। कृषि अब इससे भी अधिक योगदान देकर अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकीय सन्तुलन, जल संसाधन, जैव विविधता, ग्रामीण गरीबी निवारण, खाद्य-ईन्धन उपलब्धता और आजीविका सुरक्षा इत्यादि क्षेत्रों में कृषि की भूमिका दिनोंदिन महत्वपूर्ण होती जा रही है। विकासशील देशों की सरकारों और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के समग्र विकास एजेंडा में भी कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका रखी गयी है। आज सरकारों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता में उर्वरक, सिंचाई, खाद, बीज, कृषि यन्त्र एवं उपकरण, विद्युत, और फसल बीमा आदि पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता (सब्सिडी) सम्मिलित होती है। लेकिन चिन्ता की बात यह है कि सरकार के द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता से कृषि क्षेत्र का विकास नहीं हो पा रहा है, बल्कि इसका दुरुपयोग अधिक हो रहा है। सरकारों द्वारा

*वरिष्ठ सहायक प्रोफेसर (अर्थशास्त्र), कल्याण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भिलाईनगर, जिला-दुर्ग (छत्तीसगढ़)
E-mail: lakhanchoudhary3@gmail.com

दी जाने वाली इस आर्थिक सहायता का अधिकांश हिस्सा बड़े एवं छोटे किसानों के खाते में जा रहा है और मध्यम किसानों को इसका लाभ नहीं मिल पा रहा है, जबकि इस समय सबसे अधिक खराब स्थिति मध्यम किसानों की है। इसलिये सरकारों के द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता अपना प्रभाव छोड़ने में असफल हो रही है। स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली आर्थिक सहायता न तो न्यायसंगत है और न फलोत्पादक।

कृषि, भारतीय अर्थव्यवस्था में आदिकाल से आजीविका का मुख्य स्रोत एवं साधन रही है। आजादी के बाद से अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीय वितरण में बड़े संरचनात्मक परिवर्तनों के बावजूद कृषि आजीविका का मुख्य स्रोत बनी हुई है। कृषि ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ समग्र आर्थिक गतिविधियों, क्रियाकलापों एवं कार्यों का बुनियादी स्रोत एवं आधार है, वहीं शहरी अर्थव्यवस्था जैसे उद्योग, परिवहन, बैंकिंग इत्यादि द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों के लिए भी अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य घटक है। आज भारतीय अर्थव्यवस्था के जीडीपी योगदान वाले कृषि क्षेत्र के सापेक्ष महत्व में पिछले दशकों में भले ही स्पष्ट गिरावट आई है, इसके बावजूद अर्थव्यवस्था के समावेशी विकास के लिए कृषि विकास एवं संवृद्धि अत्यावश्यक है।

पिछले दो-ढाई दशकों में भारतीय कृषि में महत्वपूर्ण बदलाव एवं परिवर्तन आये हैं। ग्रामीण आजीविका में कृषि अभी भी देश की कुल श्रमशक्ति से आधे से भी अधिक को प्रत्यक्ष रोजगार प्रदान कर रही है। लेकिन जीडीपी में योगदान के आधार पर अब कृषि तीसरे स्थान पर पहुँच गयी है। वर्ष 1951-52 में 52-55 प्रतिशत के उच्च स्तर की तुलना में इस समय 15-18 प्रतिशत से भी कम हो गया है। फिर भी कृषि से श्रमशक्ति की अन्यान्य क्षेत्रों की ओर गतिशीलता पर्याप्त नहीं है। आजीविका विविधता विकल्पों की अपर्याप्त उपलब्धता, कृषि श्रमिक बल के बहुत बड़े भाग में शिक्षा और कुशलता के अपेक्षित स्तर का अभाव जैसे कारण कृषि श्रम या श्रमिकों की गतिशीलता को रोक रहे हैं। इसके बावजूद ग्रामीण आजीविका का संरक्षण, ग्रामीण गरीबी को कम करने, समावेशी विकास के लिए नीतियाँ तैयार करने की आवश्यकता पर नीति निर्माताओं को सचेत करने, आर्थिक स्थिरता बनाये रखने, खाद्य और पौषण सुरक्षा प्रदान करने एवं पारिस्थितिकी और पर्यावरणीय सन्तुलन बनाये रखने जैसे मुद्दों के निवारण या निराकरण के लिए कृषि आज भी सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में अर्थव्यवस्था में अपनी भूमिका का निर्वहन कर रही है।

प्राचीन काल से भारत एक कृषि प्रधान राष्ट्र रहा है और आज भी दुनिया का एकमात्र ऐसा सबसे बड़ा कृषि प्रधान राष्ट्र है, जहाँ की दो तिहाई से अधिक जनसंख्या उसके छह लाख से अधिक गाँवों में निवास करती है तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से कृषि पर आश्रित और निर्भर है। इक्कीसवीं सदी में आज भी भारतीय जनमानस, भारतीय अर्थव्यवस्था एवं भारतीय उद्योगधन्धों की जड़ें इन्हीं गाँवों, कस्बों, खेतों, खलिहानों, नदियों, तालाबों, जंगलों, पहाड़ों, यानि खेती-किसानी अर्थात् कृषि एवं कृषि से सम्बन्धित अन्य सहायक कार्य-व्यवसायों से जुड़े हुए हैं। यदि दक्षिण-पूर्व-पश्चिम मानसून या अन्य किन्हीं कारणों से देश में खेती-किसानी प्रभावित होती है, तो आज भी भारतीय अर्थव्यवस्था पर संकट के बादल मँडराने लगते हैं।

इसलिये सही मायनों में यदि हम देश का समावेशी, सम्पूर्ण एवं समग्र सामाजिक एवं आर्थिक विकास चाहते हैं, तो भारतीय कृषि का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है - "यदि इस देश में कृषि असफल हो जाती है तो हम सब असफल हो जायेंगे, सरकार असफल हो जायेगी, राष्ट्र असफल हो जायेगा। हमारे लिए कोई आशा नहीं है सिवाय इसके कि हमें कृषि को सफल बनाना है।"[1]

अध्ययन का उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि विकास की स्थितियों का आँकलन करना; कृषि विकास और आर्थिक विकास के बीच सम्बन्ध का अध्ययन करना; कृषि विकास की सैद्धान्तिक पूर्वधारणाओं पर विचार करना; कृषि विकास के निर्धारण तत्वों की पहचान करना; भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि विकास के योगदान की समीक्षा करना; कृषि विकास की आसन्न चुनौतियों पर चर्चा करना; एवं इन चुनौतियों से निपटने के लिए समाधान प्रस्तुत करना।

कृषि का ऐतिहासिक आधार एवं पृष्ठभूमि

कृषि सम्पूर्ण मानव जाति के जीवन का आधार होती है। 5000 ईसा पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता के अवशेषों में कृषि कार्य के अनेक प्रमाण मिले हैं। कृषि दुनिया की समस्त संस्कृतियों एवं सभ्यताओं की जननी है। वास्तव में कृषि ही दुनिया की तमाम सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की आदि स्रोत है। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'कृषि संस्कृति ही समस्त संस्कृतियों की जननी है।'[2] स्पष्ट है कि दुनिया की समस्त मानवीय संस्कृतियों का स्रोत कृषि एवं कृषि से सम्बन्धित अन्य कार्य व्यवसाय, यथा - खेती-किसानी, पशुपालन, डेयरी, मछलीपालन, वन, वानिकी, खनन इत्यादि हैं। कृषि अर्थव्यवस्था का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र होता है जिसके विकास के बगैर अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों का विकास न केवल अधूरा एवं अपूर्ण होता है, बल्कि असम्भव होता है। कृषि जहाँ एक ओर अर्द्ध-विकसित एवं विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं में राष्ट्रीय आय का सबसे बड़ा स्रोत होती है, इन देशों के लोगों के रोजगार एवं जीवनयापन का मुख्य साधन होती है, वहीं दूसरी ओर विकसित अर्थव्यवस्थाओं में व्यापारिक, वाणिज्यिक एवं औद्योगिक विकास एवं प्रगति का मूल आधार होती है। वास्तव में कृषि अर्द्ध-विकसित एवं विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं की रीढ़ तथा विकास की कुंजी की तरह है, वहीं विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं का आधार एवं नींव की तरह होती है, जिसके समग्र, समावेशी एवं सम्पूर्ण विकास के बगैर प्रगति एवं समृद्धि की संकल्पना ही अधूरी एवं निरर्थक है।

किसी भी देश या अर्थव्यवस्था के विकास में कृषि का महत्व आधारभूत नींव की तरह है। भारत जैसे ग्रामीण बहुल देश-प्रदेश में तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। जहाँ की दो तिहाई से अधिक जनसंख्या गाँवों में रहती है और कृषि उसका प्रमुख कार्य-व्यवसाय तथा

आजीविका का प्रमुख साधन एवं स्रोत है। आधुनिक भारत के निर्माता पं. जवाहरलाल नेहरू ने उचित कहा है - "बड़े संयन्त्रों सहित किसी भी अन्य वस्तु की अपेक्षा कृषि अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि कृषि उत्पादन सभी प्रकार की आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है, कृषि ही प्रगति के लिए साधन जुटाती है।"[3] देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि का अत्यन्त ही सकारात्मक एवं सार्थक महत्व एवं योगदान है। देश की कुल श्रम शक्ति का आधा हिस्सा कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित है। देश के आधे प्रमुख, लघु एवं कुटीर उद्योगधन्धों को कच्चा माल कृषि क्षेत्र ही प्राप्त होता है तथा देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में लगभग 15 से 20 प्रतिशत कृषि वस्तुओं का अनुपात होता है। जहाँ तक देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (जीडीपी यानि सकल घरेलू उत्पाद) में कृषि क्षेत्र के योगदान की बात है तो उसमें लगातार गिरावट आ रही है, लेकिन इससे कृषि क्षेत्र के महत्व में कोई कमी नहीं आने वाली है।

स्वतन्त्रता के समय देश की अर्थव्यवस्था में कृषि एवं कृषि सहायक क्षेत्र का योगदान लगभग दो तिहाई के आसपास हुआ करता था, किन्तु यह स्थिति धीरे धीरे कम होती चली गई। 1950-51 में जिस कृषि क्षेत्र का योगदान देश की अर्थव्यवस्था में 55 प्रतिशत से ऊपर था आज वह घटकर 10 से 15 प्रतिशत तक रह गया है, बल्कि इस समय देश की अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र का योगदान घटकर एक अंक में अर्थात् 10 प्रतिशत से नीचे तक आ चुका है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि देश के आर्थिक विकास में कृषि क्षेत्र की भूमिका अथवा योगदान कम हो जाता है, बल्कि कृषि आदिकाल से ही विकास का इंजन है और हमेशा रहेगा।[4] कोविड-19 कालखण्ड की त्रासदियों ने खेती-किसानी एवं कृषि की प्रासंगिकता एवं सार्थकता को न केवल और बढ़ा दिया है, अपितु मानव प्रजाति के अस्तित्व के लिए इसकी महत्ता को चरमोत्कर्ष पर स्थापित कर सिद्ध किया है कि जब तक धरती पर इंसान रहेंगे कृषि जीवित रहेगी। यानि जब तक कृषि जीवित रहेगी तब तक ही इस धरती पर इंसान जीवित रह सकेगा।

कृषि विकास के लिए शर्तें : सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

आर्थिक विकास में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका की स्वीकारोक्ति अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ के पहले से ही चली आ रही है। फिजियोक्रेट्स या प्रकृतितन्त्रवादियों ने कृषि को आर्थिक विकास में सबसे महत्वपूर्ण माना, समझा एवं स्थान दिया है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भी आर्थिक विकास में कृषि का महत्व स्वीकार किया किन्तु कृषि को इन्होंने उद्योग की वृद्धि से यथाविधि जोड़कर ही देखा एवं रखा। एडम स्मिथ के बुनियादी संवृद्धि प्रतिमान ने समग्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक गैर कृषि उत्पादन की सहायता के लिए कृषि अधिशेष के उत्पादन पर विचार किया। सामान्यत: प्रतिष्ठित अर्थशात्रियों ने 'प्रौद्योगिकी, निवेश और लाभ' के बीच अन्त:सम्बन्ध की विशेषता बताई जिसमें प्रौद्योगिकी का स्तर निवेश पर निर्भर करता है, निवेश लाभ पर निर्भर करता है और लाभ आंशिक रूप से प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है।

डब्ल्यू. आर्थर लुईस (1954) ने बताया कि विकासशील देशों के कृषि क्षेत्र में जीवन निर्वाह करने वाला विशाल श्रम-बल विद्यमान होता है, जिसकी सीमान्त उत्पादकता लगभग शून्य होती है। इसलिये निर्वाह मजदूरी स्तर पर उपलब्ध अधिशेष श्रम-बल को औद्योगिक सेक्टर में स्थानान्तरित किया जाना चाहिए। ये स्थानान्तरण कृषि सेक्टर के निर्वाह मजदूरी से अधिक मजदूरी दर पर किया जा सकता है, ताकि कृषि सेक्टर से 'पूंजीवादी सेक्टर' में जाने का अवरोध समाप्त हो सके। पूंजीवादी सेक्टर को तो 'कुशल कामगारों' की आवश्यकता होती है किन्तु इस बात को लुईस ने अस्थायी अवरोध ही माना था, क्योंकि 'अकुशल कामगारों' को उनकी कुशलता का स्तर बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण दिया जा सकता है। इस प्रकार कृषि क्षेत्र से श्रमशक्ति आयात करके उद्योग क्षेत्र का विकास किया जा सकता है।

अधिक निवेश और प्रौद्योगिकी के कारण 'पूंजीवादी क्षेत्र अर्थात् औद्योगिक क्षेत्र या गैरकृषि सेक्टर में श्रम की सीमान्त उत्पादकता कृषि क्षेत्र में प्रभावी मजदूरी दर की अपेक्षा अधिक होती है, इसलिये यह पूंजी अधिशेष का सृजन करता है, जिसे आगे पूंजी निर्माण के उच्चतर स्तरों में निवेश किया जा सकता है। बढ़ा हुआ निवेश पूंजीवादी क्षेत्र में श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढ़ाने में सहयोग करता है। आगे चलकर यह निर्वाह क्षेत्र के अधिकांश लोगों के लिए रोजगार के अवसर सम्भव बनाता है। लुईस का तर्क विशाल कृषि अर्थव्यवस्थाओं के लिए लागू होता है। वास्तव में लुईस ने कल्पना की थी कि श्रम स्थानान्तरण की प्रक्रिया अनिश्चित काल तक जारी नहीं रखी जा सकती और किसी न किसी समय इस पर विराम लगेगा। इसलिये उन्होंने तर्क दिया कि श्रम अधिशेष देशों से आप्रवासन प्रोत्साहित कर या निर्वाह मजदूरी दर पर श्रमिकों की प्रचुर आपूर्ति वाले देशों को पूंजी निर्यात कर पूंजी निर्माण की प्रक्रिया जारी रखी जा सकती है। इस प्रकार लुईस मॉडल सामान्यत: आर्थिक विकास की प्रक्रिया समझने के लिए एक रूपरेखा प्रदान करता है।

फाई-रेनिस ने कृषि से उद्योग में अधिशेष श्रमिक स्थानान्तरण की तीन पृथक् अवस्थाएँ बताई हैं। पहली अवस्था के दौरान कृषि से उद्योग में अधिशेष श्रमिकों के स्थानान्तरण से कृषि उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। दूसरी अवस्था में अधिशेष श्रमिक संग्रह होने लगता है। कृषि में श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढ़नी शुरू होती है। यानि कृषि से उद्योग में श्रम स्थानान्तरण की सकारात्मक अवसर लागत होती है। इस अवस्था में कृषि मजदूरी दर की अपेक्षा औद्योगिक मजदूर दर अधिक रहेगी, तभी तक यह सम्भव होता है। तीसरी अवस्था में आर्थिक संवृद्धि में प्रौद्योगिकीय प्रगति और उन्नत आधारभूत संरचना द्वारा अर्थव्यवस्था का विकास होने लगता है।

शुल्ज (1964) ने तर्क दिया था कि कृषि में श्रम की सीमान्त उत्पादकता कभी भी शून्य या ऋणात्मक नहीं होती है। परन्तु उसका दृढ़ विश्वास था कि यदि दो अन्तर्निहित महत्वपूर्ण मुद्दों का उत्तर दिया जा सके तो अर्थव्यवस्था में उत्पाद का समग्र मूल्य कृषि सेक्टर में अधिशेष श्रम का उपयोग करके बढ़ाया जा सकता है। वे कौन सी दशाएँ हैं जिनमें कृषि से अतिरिक्त श्रम को कृषि में उत्पादन घटाये बिना स्थानान्तरित किया जा सकता है? और

सम्भाव्य श्रम बल की क्या अपेक्षाएँ हैं? ताकि पारस्परिक सम्पूरक तरीके से दोनों क्षेत्रों को लाभान्वित किया जा सके? उन्होंने विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में उन किसानों का उदाहरण दिया जिन्हें उन अनिश्चित आर्थिक दशाओं से निपटना पड़ता है, जो उनकी स्वयं की बनाई हुई नहीं हैं। उनके अनुसार शिक्षा लोगों को शोषण से निकलकर आर्थिक वातावरण से सम्बन्ध जोड़ने के लिए अधिक सक्षम बनाती है।

शुल्ज के समकालीन जार्गेनसन ने कृषि एवं श्रम के मुद्दे को संसाधनों के अन्त:क्षेत्रीय प्रवाह के दृष्टिकोण से देखा और उल्लेख किया कि गैर कृषि क्षेत्र की वृद्धि धनात्मक और बढ़ते हुए 'कृषि अधिशेष' पर निर्भर होती है। जार्गेनसन के अनुसार कृषि में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन तेज गति से नहीं होने से कृषि खाद्य अधिशेष उत्पादन नहीं कर सकती है और न ही उद्योग के लिए अपने 'अधिशेष श्रमिक' छोड़ सकती है। इसलिये शुल्ज-जार्गेनसन द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त का सार यह है कि कृषि और उद्योग का परस्पर विकास टिकाऊ विकास और अधिशेष श्रम के सफल हस्तान्तरण के लिए आवश्यक है।

कृषि की भूमिका : सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

आर्थिक विकास के सन्दर्भ में कृषि का महत्व काफी पहले से स्वीकार किया गया है। अर्थशास्त्रियों ने केवल अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्र के रूप में कृषि की प्रशंसा की जिससे श्रम और नियोजित पूंजी की आवश्यकताओं से अधिक अधिशेष उत्पादित होता था। प्रतिष्ठित एवं नवप्रतिष्ठित विचारधाराओं के अर्थशास्त्रियों ने कृषि की भूमिका प्रमुख मानी है। इसमें अधिकांश साहित्य अर्थव्यवस्था के परम्परागत कृषि से आधुनिक औद्योगिक स्वरूप में संरचनात्मक रूपान्तरण की प्रक्रिया पर केन्द्रित है। द्वैधाभासी अर्थव्यवस्था मॉडल मुख्यतया सिंगर, नर्कसे, लेविस, रेनिस और फॉई आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका का विश्लेषण करने के लिए अच्छा सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। ये मॉडल और उन पर आधारित अनुवर्ती अध्ययन यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि कृषि अपेक्षाकृत श्रम प्रधान कार्य है जो दुर्लभ पूंजी संसाधनों का पूरा लाभ उठाती है। यह खाद्यान्न, कृषि आधारित और अन्य उद्योगों के लिए कच्चा माल, श्रम, बचत प्रदान कर और गैर कृषि वस्तुओं के लिए माँग उत्पन्न कर आर्थिक विकास में योगदान करती है।

जॉनसन और मेल्लोर (1961) ने माना है कि कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कृषि निर्यात अर्जन द्वारा पूंजी, गैर-कृषि क्षेत्रों के उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए घरेलू माँग, बढ़ती हुई आबादी और आय की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को बनाये रखने के लिए आवश्यक अपने ही उत्पादन के लिए अतिरिक्त माँग का सृजन करती है। इसलिये उन्होंने किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए कृषि के पाँच योगदानों जैसे घरेलू खपत की जरूरतें पूरी करना, उद्योगों के लिए श्रमिक एवं घरेलू औद्योगिक उत्पादन के लिए बाजार का विस्तार, घरेलू बचत दर बढ़ाने और कृषि निर्यात से विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की चर्चा की है।

कुजनेट्स ने आर्थिक विकास के लिए कृषि के तीन योगदानों जैसे उत्पाद, बाजार और कारक योगदान की चर्चा की है। उनके अनुसार - "यदि कृषि बढ़ती है, यह उत्पादन योगदान करती है, यदि यह अन्य से व्यापार करती है, यह बाजार योगदान करती है, यदि यह अन्य सेक्टरों को संसाधन हस्तान्तरण करती है, तो यह कारक योगदान करती है।" शुल्ज ने अपनी पुस्तक 'ट्रांसफार्मिंग ट्रेडिशनल एग्रिकल्चर' में तर्क दिया है कि कृषि नयी प्रौद्योगिकी अपनाकर न केवल उत्पादकता बढ़ाने में सक्षम है बल्कि गुणक प्रभावों से अन्य क्षेत्रों में भी विकास बढ़ाने की सम्भावना रखती है।

इस प्रकार प्राचीन काल में कृषि की परम्परागत भूमिका पर जोर था, परन्तु कृषि के 'बहुमुखी स्वरूप' की स्वीकृति बढ़ रही थी। पारिस्थितिकी और पर्यावरण, जल संसाधन, जैव विविधता, ग्रामीण गरीबी, खाद्य, ईन्धन, आजीविका, सुरक्षा आदि से सम्बन्धित वर्तमान मुद्दों ने बहुत से विकासशील देशों और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के समग्र विकास एजेंडे में कृषि को एक बार फिर रखा है। विश्व विकास रिपोर्ट 2008 ने विकाशील देशों में ग्रामीण गरीबी उन्मूलन और संवृद्धि के प्रभावशाली इंजन के रूप में कृषि के महत्व को स्वीकारा है।

कृषि बनाम सन्तुलित वृद्धि दृष्टिकोण

कृषि को लेकर प्राय: एक महत्वपूर्ण समस्या अर्थव्यवस्था में माँग को अभिप्रेरित या उत्प्रेरित करने से सम्बन्धित होती है। यह सही है कि आर्थिक रूपान्तरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है जो अपनी आजीविका के लिए मुख्यत: कृषि पर निर्भर होता है। इस खेतिहर ग्रामीण समाज के गरीब और कम पढ़े-लिखे होने के कारण कृषि के अतिरिक्त सहायक आमदनी एक बड़ी समस्या होती है। इसलिये कृषि केन्द्रित व्यावसायिक कार्यों एवं गतिविधियों को बढ़ाकर इनकी आय बढ़ाना जरूरी होता है। आय कम होने के कारण औद्योगिक क्षेत्र के लिए माँग भी कम रहेगी। इस परिस्थिति से निपटने के लिए रोजेनस्टीन रोडान (1943) ने 'बिग-पुश' या प्रबल प्रयास नामक सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसका उद्देश्य अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन, रोजगार और उपभोग का समन्वित विस्तार करना होता है।

'बिग-पुश' ने विकास के लिए आर्थिक बाधाओं से निपटने हेतु अपेक्षित निवेश की कुछ न्यूनतम उच्च मात्रा को महत्व दिया। ऐसी स्थिति का अभिप्राय आपस में सम्पूरक तरीके से कृषि और गैर कृषि क्षेत्रों में अन्त:सम्बद्ध आर्थिक गतिविधियों की सन्तुलित संवृद्धि आसान बनाना है। यह दृष्टिकोण एक ओर गरीबी जो मुख्यत: ग्रामीण क्षेत्रों में प्रभावशाली माँग के अभाव के कारण हैं, के दुश्चक्र की गम्भीर समस्या के समाधान में सहायक होगा, तथा दूसरी ओर अर्थव्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक आधार को विस्तृत बनाने में भी सहायक होगा। कृषि और गैर कृषि दोनों क्षेत्रों में ऐसा निवेश बहुमुखी लाभ सुनिश्चित करेगा। ग्रामीण क्षेत्र के लोगों की आय बढ़ाना, इससे औद्योगिक और गैर कृषि वस्तुओं की माँग में वृद्धि होगी। विशाल ग्रामीण जनसंख्या की रुचियों और आय के स्तरों के अनुकूल वस्तुओं एवं सेवाओं की

आपूर्ति बढ़ाना। विदेशी व्यापार के माध्यम से औद्योगिक पूंजी द्वारा कृषि क्षमता सुधारना। तात्पर्य यह है कि अधिशेष के वास्तविक प्रदाता के रूप में कृषि की भूमिका और वास्तविक माँग पैदा करने में भूमिका के बीच संघर्ष का समाधान करना नीतिगत चुनौती होती है। वस्तुत: ये सारे तर्क कृषि विकास को प्राथमिकता देने, उसके अधिशेष अर्थव्यवस्था से अन्तर्सम्बन्धों को बल प्रदान करने का आग्रह करते हैं।

कृषि विकास दर एवं जीडीपी में हिस्सेदारी

पिछड़ी हुई, श्रम प्रधान, कम उत्पादकता वाली एवं परम्परागत खेती के दिन अब लद गये। अब प्रगतिशील खेती, व्यावसायिक खेती, आधुनिक-उन्नत खेती, मशीनी-तकनीकी खेती, नकदी फसलों की खेती के दिन हैं। परम्परागत कृषि में प्रमुखत: उत्पादन के जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है उनमें भूमि एवं श्रम (मानवीय एवं पशु) मुख्य हुआ करते थे, लेकिन आधुनिक कृषि के अन्तर्गत उत्पादन के जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है उनमें भूमि एवं श्रम (मानवीय एवं पशु) के अतिरिक्त पूंजी, मशीन या तकनीक, संगठन या कर्मचारी एवं जैव-रासायनिक (बीज, उर्वरक, कीटनाशक एवं सिंचाई) प्रमुख हैं। अब तो व्यावसायिक खेती का जमाना है जिसमें कृषि उत्पाद की सही पैकेजिंग, विज्ञापन एवं विपणन महत्वपूर्ण हैं। इसलिये अब भारत में कृषि द्वारा विकास दर या वृद्धि दर को गति देना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जब तक कृषि क्षेत्र में गति नहीं आयेगी तब तक देश के ग्रामीण क्षेत्र का सम्पूर्ण, समग्र एवं समावेशी विकास नहीं हो पायेगा और जब तक देश का ग्रामीण क्षेत्र उपेक्षित रहेगा तब तक देश का विकास अधूरा रहेगा। देश में गरीबी, निर्धनता, भूखमरी, कुपोषण, बेरोजगारी, असमानता आदि समस्याओं का समाधन केवल और केवल विकास से ही सम्भव है। पिछले दशक में प्रारम्भ किये गये आर्थिक सुधारों के दो दशक के परिणामों से यह भी सिद्ध हो गया है कि देश में कोई भी आर्थिक सुधार तब तक कारगर प्रभाव नहीं छोड़ सकता है तब तक कृषि की स्थिति में सुधार नहीं हो जाता है। भारत के सम्बन्ध में जारी विश्व विकास रिपोर्ट 2008 इसकी पुष्टि भी करती है। विश्व विकास रिपोर्ट 2008 के अनुसार निर्धनता की दर में कमी लाने के लिए कृषि से परे जीडीपी विकास की तुलना में कृषि क्षेत्र की जीडीपी अर्थात् सकल घरेलू उत्पाद दोगुना प्रभावी होता है।

कृषि, देश का प्रमुख कार्य व्यवसाय होते हुए भी कृषि में विकास दर का अत्यन्त निम्न होना गम्भीर चिन्ताजनक है। यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि स्वतन्त्रता से लेकर आज तक कृषि में विकास दर या वृद्धि दर 4 प्रतिशत के स्तर को नहीं छू पायी है। भारत सरकार की आर्थिक सर्वेक्षण रिपोर्ट 2012-13 के अनुसार देश की 1951 से लेकर 2012 तक की कृषि की विकास दर या औसत वृद्धि दर को प्रमुखत: पाँच चरणों में बाँटा जाता है। प्रथम चरण 1951-52 से 1965-66 की अवधि में कृषि में विकास दर 2.15, द्वितीय चरण 1966-67 से 1980-81 की अवधि में 3.03 प्रतिशत, तृतीय चरण 1981-82 से 1991-92 की अवधि में 3.45 प्रतिशत, चतुर्थ चरण 1992-93 से 2004-05 की अवधि में 3.14 प्रतिशत तथा पाँचवे

चरण 2005-06 से 2011-12 की अवधि में 3.89 प्रतिशत रही है। 2012-13 के बाद भी कृषि विकास दर में कोई उल्लेखनीय वृद्धि दिखलाई नहीं देती है।[5]

तालिका 1

विभिन्न चरणों में कृषि विकास दर एवं जीडीपी में हिस्सेदारी (प्रतिशत में)[6]

प्रथम चरण	1951-1966	2.15	54-67
द्वितीय चरण	1966-1981	3.03	43-47
तृतीय चरण	1981-1992	3.45	32-35
चतुर्थ चरण	1992-2005	3.14	23-27
पंचम चरण	2005-2012	3.89	17-20
षष्ठ चरण	2012-2013	1.5	18.5
	2013-2014	4.2	18.3
	2014-2015	-0.2	18.2
	2015-2016	0.8	17.5
	2016-2017	6.3	17.9
	2017-2018	5.0	17.2
	2018-2019	2.9	16.1
	2019-2020	2.8	17.8
कोविड कालखण्ड	2020-2021	3.4	19.9

कृषि विकास एवं निवेश

कृषि विकास दर या कृषि में वृद्धि दर उसमें किये जाने वाले निवेश पर निर्भर करती है। यह सही है कि कृषि में जितनी मात्रा में पूंजी का निवेश किया जायेगा कृषि में वृद्धि दर उसी अनुपात से बढ़ेगी, लेकिन कई बार यह वृद्धि दर कृषि में निवेश की जाने वाली पूंजी की कार्यकुशलता एवं दक्षता पर निर्भर करती है, क्योंकि इससे ही उत्पादकता प्रभावित होती है। स्पष्ट है कि कृषि विकास को गति देने के लिए कृषि में निवेश करने की आवश्यकता है किन्तु चिन्ताजनक बात यह है कि देश में कृषि में जो निवेश हो रहा है वह निजी क्षेत्र में अधिक है। "ऐसा कहा जा रहा है कि इस समय कृषि में जो निवेश हो रहा है उसमें सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश कुल निवेश का मात्र 20 प्रतिशत है जबकि कृषि में निजी क्षेत्र का निवेश 80 प्रतिशत के आसपास है।" चिन्ता की बात यह है कि इस तरह के निवेश से कृषि विकास दर बढ़ने वाली नहीं है।

यहाँ कृषि में निवेश से तात्पर्य कृषि भूमि के विकास, तालाबों, बाँधों, नहरों आदि निर्माण के साथ बड़ी एवं मध्यम सिंचाई परियोजनाओं के विकास से होता है। शोध एवं विकास, ग्रामीण अधोसंरचना का विकास, ग्रामीण विद्युतीकरण, परिवहन मार्गों का विकास आदि से होता है। कृषि में विकास का प्रभाव एवं विकास को गति देने में सार्वजनिक निवेश की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। आज सबसे बड़ी जरूरत है कि कृषि में सिंचाई एवं

अनुसन्धान पर निवेश बढ़ाया जाए जिससे उत्पादकता बढ़े और कृषि की विकास दर में बढ़ोतरी हो। यह निवेश केवल सरकार के द्वारा सम्भव है।

कृषि विकास के लिए निवेश आवश्यक है, यह तो स्पष्ट है लेकिन इसमें सार्वजनिक व्यय की अधिक महत्ता होती है क्योंकि कृषि विकास के लिए आवश्यक दीर्घकालीन अधोसंरचनात्मक विकास योजनाओं (सिंचाई, परिवहन, बाजार, अनुसन्धान, प्रौद्योगिकी एवं दूरसंचार) पर केवल सार्वजनिक व्यय के माध्यम से ही सार्वजनिक क्षेत्र निवेश कर सकता है। देश में कृषि पर सार्वजनिक व्यय 1993-94 की 8.6 प्रतिशत की तुलना में बढ़कर 2009-10 में 20.6 प्रतिशत तक पहुँच गया है। यहाँयह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सार्वजनिक व्यय से तात्पर्य सार्वजनिक निवेश एवं सरकार द्वारा कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली आर्थिक सहायता (सब्सिडी) से है। सरकार के द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता में उर्वरक, सिंचाई, खाद, बीज, कृषि यन्त्र एवं उपकरण, विद्युत, फसल बीमा, आदि पर दी जाने वाली आथिक सहायता सम्मिलित है। लेकिन चिन्ता की बात यह है कि सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता से कृषि क्षेत्र का विकास नहीं हो पा रहा है बल्कि इसका दुरुपयोग अधिक हो रहा है। सरकार के दी जाने वाली इस आर्थिक सहायता का अधिकांश हिस्सा बड़े किसान ले रहें हैं और छोटे एवं मध्यम किसानों को इसका लाभ नहीं मिल पा रहा है। इसलिये सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता अपना प्रभाव छोड़ने में असफल रही है। इसलिये इस सम्बन्ध में प्रश्न भी उठता है कि कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली सहायता न तो न्यायसंगत है न ही फलोत्पादक।

"शेनगेन फैन, अशोक गुलाटी एवं सुखदेव थोराट ने 2008 में जो शोध किया उसके अनुसार कृषि सामग्री पर दी जाने वाली सब्सिडी से गरीबी दूर करने अथवा कृषि विकास को गति देने की दिशा में कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसके मुकाबले ग्रामीण सड़कों या कृषि शोध एवं विकास या सिंचाई, यहाँ तक कि स्वास्थ्य और शिक्षा पर होने वाले निवेश से अधिक लाभ प्राप्त होता है।"[7] इसका तात्पर्य यह है कि सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता से कुछेक व्यक्तियों को ही लाभ होता है जबकि सार्वजनिक एवं सामाजिक जनकल्याण नहीं हो पाता है। इसलिये अनेकों कृषि विशेषज्ञों, ग्रामीण विकास के जानकारों एवं अर्थशास्त्रियों का मानना है कि आर्थिक सहायता की इस रकम को ग्रामीण विकास से सम्बन्धित सामाजिक अधोसंरचना के विकास में खर्च करके धन का समुचित सदुपयोग एवं गाँवों का पर्याप्त विकास किया जा सकता है।

अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र का महत्व

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र का अत्यन्त सकारात्मक एवं सार्थक महत्व एवं योगदान है। देश की दो तिहाई से अधिक जनसंख्या प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से रोजगार एवं आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर है। देश की कुल श्रम शक्ति का आधा हिस्सा कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित है। देश के प्रमुख, लघु एवं कुटीर उद्योगधन्धों को कच्चा माल कृषि क्षेत्र से ही प्राप्त होता है तथा देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में लगभग 15 से 20 प्रतिशत कृषि

वस्तुओं का अनुपात होता है। जहाँ तक देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (जीडीपी यानि सकल घरेलू उत्पाद) में कृषि क्षेत्र के योगदान की बात है तो उसमें लगातार गिरावट आ रही है, लेकिन इससे कृषि क्षेत्र के महत्व में कोई कमी नहीं आने वाली है। स्वतन्त्रता के समय देश की अर्थव्यवस्था में कृषि एवं कृषि सहायक क्षेत्र का योगदान लगभग दो तिहाई के आसपास हुआ करता था, किन्तु यह स्थिति धीरे धीरे कम होती चली गई। 1950-51 में जिस कृषि क्षेत्र का योगदान देश की अर्थव्यवस्था में 55 प्रतिशत से उपर था वह आज 10 से 15 प्रतिशत तक घटकर रह गया है। कुछेक अर्थशास्त्री देश की अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र का योगदान 14 से 18 प्रतिशत मानते हैं।

कृषि की भूमिका को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। आर्थिक विकास में कृषि की प्रत्यक्ष भूमिका का आँकलन सकल घरेलू उत्पाद में योगदान, रोजगार उपलब्धता, निर्यात, खाद्य सामग्रियों की उपलब्धता एवं उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति और पूंजी निर्माण के लिए बचतों में उसके योगदान के आधार पर किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष भूमिका का आँकलन गरीबी निवारण, खाद्य और पोषण सुरक्षा, आर्थिक स्थिरता, पारिस्थितिकी और पर्यावरणीय सन्तुलन, ग्रामीण खेतिहर समाज की आय और रोजगार वृद्धि आदि के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के समग्र विकास में कृषि उत्पादन प्रणाली जैसे फसल उत्पादन, पशुधन, कृषि वानिकी आदि और कृषि खाद्य प्रणाली अर्थात् कृषि उत्पादों का संसाधन, विपणन, वितरण सम्मिलित होते हैं। तात्पर्य यह है कि कृषि की भूमिका राष्ट्रीय आय में सकल कृषि घरेलू उत्पाद के भाग के रूप में सबसे महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय होती है।

सकल घरेलू उत्पाद में योगदान

ऐतिहासिक साक्ष्य और अनुभवजन्य अध्ययन बताते हैं कि किसी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कृषि का योगदान अत्यधिक होता है। लेकिन जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था का विकास होता जाता है एवं अर्थव्यवस्था बढ़ती है या औद्योगिक होती जाती है, कृषि क्षेत्र का योगदान या अंशदान घटने, सिकुड़ने या कम होने लगता है। अर्थव्यवस्था में उद्योग एवं सेवा क्षेत्र का योगदान बढ़ने लगता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि जीडीपी में कृषि क्षेत्र की भूमिका घटने लगी है यानि कृषि क्षेत्र की प्रगति अवरुद्ध या बाधित हो रही है। इस अवधि के दौरान भी कृषि उत्पादन बढ़ता है, परन्तु उद्योग एवं सेवा क्षेत्र अधिक तेजी से बढने लगता है। परिणामस्वरूप विकास की धारा उद्योग एवं सेवा क्षेत्र की ओर मुड़ जाती है या हस्तान्तरित होती जाती है। दूसरी ओर वानिकी, बागवानी, डेयरी, फल-फूल, सब्जियाँ एवं अन्य नकदी उत्पादों के लिए कृषि विविधीकरण की प्रक्रिया तेजी से होने लगती है, इसके बावजूद कृषि का अंशदान जीडीपी या आर्थिक विकास में घटने लगता है।

कृषि एवं कृषि सम्बद्ध कार्यों का योगदान पिछले 50 वर्षों में लगातार घट रहा है। 1960-61 में 50.6 प्रतिशत से 1970-71 में 44.3 प्रतिशत और 1980-81 में 37.9 प्रतिशत

था। जीडीपी में कृषि का यह अंशदान 1990-91 में 31.4 प्रतिशत, 2000-01 में 23.94 प्रतिशत एवं 2010-11 में 14.2 प्रतिशत पाया गया है। कृषि के इस अंशदान में आर्थिक सुधार की पिछली दो दशकों में अधिक गिरावट आई है, क्योंकि इस अवधि के दौरान कृषि की तुलना में अन्य क्षेत्रों में अधिक वृद्धि हुई है। स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र में वास्तविक आय सारी अवधि के दौरान बढ़ी है, यद्यपि आय वृद्धि गैर कृषि क्षेत्रों की अपेक्षा कम रही है। इस समय सेवा क्षेत्र जीडीपी का लगभग 55 प्रतिशत, उद्योग क्षेत्र लगभग 25 प्रतिशत एवं कृषि एवं कृषि सहायक क्षेत्र लगभग 20 प्रतिशत का योगदान कर रहे हैं।

रोजगार में योगदान

कृषि न केवल ग्रामीण समाज को प्रत्यक्ष रोजगार देती है, बल्कि उद्योग एवं सेवा क्षेत्र के लिए भी अप्रत्यक्ष रोजगार उत्पन्न करती है। रोजगार के इन अवसरों को व्यावसायिक फसल उत्पादन, पशुपालन-डेयरी, कृषि प्रसंस्करण, नकदी फार्मिंग, कृषि शिक्षा, अनुसन्धान और विस्तार, कृषि सूचना और संचार, पादप संरक्षण आदि के माध्यम से पैदा किया जाता है। 1951 में देश की कुल श्रमशक्ति का 69-70 प्रतिशत हिस्सा कृषि कार्य में लगा था। 1991 में भी यह 69-70 प्रतिशत था, परन्तु 2004-05 तक यह प्रतिशत घटकर 50 हो गया। 1951-91 के चार दशकों की अवधि में कृषि विकास दर केवल 2.6 प्रतिशत थी। कहा जा रहा है कि 1991-2005 के उदारीकरण के वर्षों में कृषि क्षेत्र में प्रत्यक्ष रोजगार के अवसर में भारी गिरावट आई है, और यह गिरकर 17-20 प्रतिशत हो गई है। सैद्धान्तिक अवधारणा के अनुसार बाजार सुधारों ने रोजगार के अधिक अवसरों की उत्पत्ति की है जिसके कारण खेतिहर श्रमिक कम उत्पादनकारी कृषि क्षेत्र से उच्च उत्पादक गैर कृषि क्षेत्र की ओर तेजी से स्थानान्तरित हो रहा है। यह 'संरचनात्मक परिवर्तन' का परिणाम है, जिसने अर्थव्यवस्था में कृषि एवं कृषि सहायक क्षेत्र पर अत्यधिक निर्भरता में कमी की है।

गरीबी निवारण में भूमिका

दुनियाभर में गरीबों की बहुत बड़ी संख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर रहती आई है। कृषि क्षेत्र में विकास बुनियादी उत्पादों और सेवाओं की माँग बढ़ाती है। चूंकि इनमें से अधिकांश माल स्थानीय लोगों द्वारा बनाया तथा उपयोग, उपभोग किया जाता है, कृषि में विकास से ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार पैदा करने तथा आय बढ़ाने की बड़ी सम्भावना होती है। विश्व विकास रिपोर्ट 2008 में कहा गया है कि कृषि विकास गरीबी और असमानता घटाने में उद्योग एवं सेवा क्षेत्र की तुलना में चार गुना अधिक प्रभावकारी या प्रभावशाली होता है। औसत कृषि श्रम उत्पादकता बढ़ाकर गरीबी रेखा में जीवनयापन करने वाले हर तीसरे व्यक्ति को गरीबी से ऊपर उठाया जा सकता है। इसलिये कृषि आय में वृद्धि को गरीबी निवारण में अधिक प्रभावी माना गया है। अध्ययन बताते हैं कि भारत में ग्रामीण गरीबी 1993-94 और 2004-05 के बीच 9 प्रतिशत तक, जबकि 1977-78 और 1987-88 के बीच 14 प्रतिशत तक गिरी थी।

खाद्य एवं पोषण सुरक्षा में भूमिका

कहा जाता है कि कृषि उत्पादन और उत्पादकता में सुधार से खाद्य सुरक्षा की समस्या को आसान करने में सहायता मिलती है। कृषि उत्पादन-उत्पादकता सुधार से उपभोक्ताओं की खाद्य उपलब्धता एवं उद्योग-सेवा क्षेत्र में ग्रामीण श्रम बल के लिए अतिरिक्त रोजगार के अवसर पैदा होते हैं। इसलिये लोगों की खाद्य और पोषण सुरक्षा का समाधान भी घरेलू कृषि में उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ाये बिना प्रभावी ढंग से असम्भव है।

समावेशी विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक

समावेशी विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कृषि विकास सर्वाधिक उपयुक्त उपाय माना जाता है। श्रम प्रधान होने के कारण कृषि विकास बाधारहित अतिरिक्त रोजगार पैदा करता है। बढ़ी हुई कृषि उत्पादकता ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में गरीबों के लिए खाद्य कीमतें भी घटाती है जो अपनी अधिकांश आय खानपान पर व्यय करते हैं। इसके अलावा यह मान्यता है कि कृषि विकास में बढ़ोत्तरी बहुगुणक प्रभाव से अधिशेष उत्पन्न करती है। उद्योग एवं सेवा क्षेत्र में आय और रोजगार की वृद्धि ग्रामीण अर्थव्यवस्था की विविधता को प्रोत्साहित करती है। इससे लोगों की वास्तविक मजदूरी बढ़ती है। जिससे ग्रामीण परिवारों के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य में अधिक निवेश करना सम्भव होता है। बेहतर शिक्षा और कौशल से कामगारों की भावी पीढ़ी उभरती हुई ग्रामीण और गैर कृषि कार्यों में विविधता लाती है। शिक्षा और कौशल श्रमिक बल को गाँव से शहरों में प्रवास के लिए आकर्षण कारक के रूप में कार्य करता है जिससे कृषि में श्रमिकों की कमी उत्पन्न होती है। इस प्रकार कृषि में निरन्तर और टिकाऊ वृद्धि कालान्तर में अर्थव्यवस्था की आर्थिक विकास प्रक्रिया में समावेशिता लाती है जहाँ श्रमिक बल का बहुत बड़ा भाग अपनी आजीविका कृषि से प्राप्त करता है। जैसा कि पहले कहा गया है, कालान्तर में इसका परिणाम श्रमिक बल का 'संरचनात्मक परिवर्तन' हो सकता है।[8]

आर्थिक विकास एवं संवृद्धि के लिए कृषि का योगदान

वैसे तो कृषि जीवन की बुनियादी आवश्यकता एवं जीवनयापन का मौलिक आधार है, लेकिन इसके साथ-साथ कृषि किसी भी राज्य या देश के आर्थिक विकास का भी प्रमुख स्रोत एवं आधार होती है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कुजनेट्स ने अर्थव्यवस्था के समग्र आर्थिक विकास के लिए कृषि के चार महत्वपर्ण योगदानों की पहचान की है -

उत्पाद योगदान - खाद्य और कच्चा माल उपलब्ध कराना,
बाजार योगदान - गैर कृषि क्षेत्र के उत्पादकों और उपभोक्ता माल के लिए बाजार उपलब्ध कराना,
कारक योगदान - गैर कृषि क्षेत्र के लिए श्रम और कच्चामाल उपलब्ध कराना, और
व्यापार योगदान - विदेशी मुद्रा अर्जित करने का बड़ा स्रोत।

तात्पर्य यह है कि कृषि जीवन की बुनियादी निर्वाह सामग्री अर्थात् खाद्यवस्तुओं की आपूर्ति का स्रोत है। बाजार, कारोबार, व्यवसाय का आधार है। उद्योग एवं सेवा क्षेत्र के लिए कच्चेमाल का स्रोत है। विदेशी व्यापार के द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जन का महत्वपूर्ण जरिया है। कृषि एवं कृषि सहायक क्षेत्र भारत की निर्यात आय का प्रमुख योगदानकर्ता रहा है। कृषि आधारित उत्पादों - चाय, कॉफी, कपास, जूट, टेक्सटाइल, मसाले, तम्बाकू, काजू, चीनी का अंशदान देश की कुल निर्यात आय का 50 प्रतिशत से अधिक रहा है।[9]

कृषि विकास के निर्धारक तत्व

कृषि विकास को प्रभावित करने वाले अनेक कारक होते हैं। इनमें भौतिक एवं प्राकृतिक, प्रौद्योकीय, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, संस्थागत, संगठनात्मक, राजनीतिक आदि प्रमुख कारक हैं। यदि किसी देश के मानव संसाधन को उचित पोषण, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा समुचित ढंग से विकसित नहीं किया जाता है, तो उनकी उत्पादकता प्रभावित होती है। ऐसे संसाधन विकास के लिए बोझ और बाधा बन जाते हैं। परन्तु यदि उन्हें समुचित ढंग से विकसित किया जाता है और उपयोग में लाया जाता है, तो वे विकास के लिए बड़ी परिसम्पत्तियाँ और प्रमुख सहयोगी कारक सिद्ध होते हैं। कृषि विकास पर विभिन्न निर्धारक तत्वों के प्रभाव के स्वरूप और परिणाम के बारे में ज्ञान, दक्षता और प्रभाविकता से आगे बढ़ना आवश्यक है। विशेष रूप से अच्छी 'ग्रामीण आधारभूत संरचना' को कृषि उत्पादन और उत्पादकता बढ़ाने में महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें सड़कें, सिंचाई, बिजली आपूर्ति, बैंकिग, संचार, आदि कारक शामिल हैं।

कृषि आधारभूत संरचना का अधिक विशिष्ट स्वरूप 'सामाजिक आधारभूत संरचना' है, जिसमें शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएँ, विस्तार सेवाएँ और सूचना प्रसारण प्रणालियाँ, सहयोगशील क्रियाविधियाँ, कृषि अनुसन्धान और कृषि प्रौद्योगिकी जैसे कारक आते हैं। कृषि विकास की प्रगति को प्रभावित करने वाली ग्रामीण आधारभूत संरचना की मुख्य कमियों में बचत जुटाने और ऋण देने के लिए वित्तीय एवं बैंकिग संस्थाओं की अपर्याप्तता है। शीत भंडारण, विपणन, बिक्री केन्द्र आदि सुविधाएँ सुलभ कराने के लिए कृषि में सार्वजनिक निवेश विकासशील अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जहाँ कृषक समुदाय का बहुत बड़ा भाग 'छोटे और सीमान्त श्रेणी' के होते हैं, जिनकी आय और जीवन निर्वाह स्तर गरीबी स्तर की सीमा तक होती है।

समग्र आर्थिक विकास के लिए कृषि विकास एक आवश्यक शर्त है। मानव संसाधन विकास पर सामाजिक सेक्टर निवेश के तरीके से जैसे, शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारभूत संरचना आदि पर पर्याप्त ध्यान देना अर्थव्यवस्था के चहुँमुखी विकास के लिए महत्वपूर्ण होता है। सामान्यत: क्षेत्रीय विकास के लिए और विशेष रूप से कृषि विकास के लिए निर्धारित लक्ष्यों और उद्देश्य प्राप्त करने में नीतियों, कार्यक्रमों और योजनाओं का महत्व होता है।

अब घाटे का सौदा बनती जा रही है खेती-किसानी

कृषि दिनोंदिन घाटे का सौदा बनती जा रही है। लाखों किसान आत्महत्या कर चुके हैं और रोजाना दर्जनों किसान आत्महत्या करते जा रहे हैं। इसके बावजूद कृषि के प्रति सरकार चिन्तित दिखलाई नहीं देती है। नेशनल सेम्पल सर्वे ऑर्गनाइजेशन (एनएसएसओ) के 70वें दौर के सर्वेक्षण आँकड़ों के अनुसार - "देश के गाँवों में 55 से 58 प्रतिशत परिवारों की रोजी-रोटी एवं जिन्दगी खेती-किसानी से ही चलती है और इन परिवारों की औसत मासिक आय 6426 रुपये है तथा देश के 52 प्रतिशत कृषक परिवार कर्ज के बोझ से दबे हैं। देश के 42 प्रतिशत कृषक विकल्प मिलने पर हमेशा के लिए खेती-किसानी छोड़ने को तैयार हैं। देश के 52.9 प्रतिशत किसानों पर आज औसतन 47,000 रुपए का ऋण है।"[10] इस निष्कर्ष से छत्तीसगढ़ राज्य अलग नहीं है, क्योंकि छत्तीसगढ़ में भी खेती-किसानी की हालत एवं दशा अच्छी नहीं है। स्वतन्त्रता के बाद कृषि क्षेत्र में कुल बजट आवंटन का 12.5 प्रतिशत हिस्सा मिलता था वह आज घटकर 3.7 प्रतिशत हो गया है। हरित क्रान्ति के कारण खेती में कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। किसानों की अधिक पैदावार की महात्वाकांक्षा के कारण आज खेती-किसानी एवं खेतिहर समाज खतरे और संकट में दिखलाई देते हैं।

आजकल कृषि पूरी दुनिया में चर्चा का विषय है। विश्व बैंक का कहना है कि वर्तमान समय में दुनियाभर में खाद्य पदार्थों की कीमतों में जो बढ़ोतरी हो रही है उसके कारण विकसित एवं धनी देशों के निवेशकों में विकासशील देशों में खेती करने लायक जमीन खरीदने की होड़ मची है। विश्व बैंक का कहना है कि धनी देश आने वाले समय की अनिश्चितता एवं कीमतों में सम्भावित वृद्धि के मद्देनजर यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि भविष्य में खाद्य पदार्थों की आपूर्ति सामान्य बनी रहे तथा कीमतों में अकस्मात् वृद्धि न हो, इसलिये वे इस उपाय को अपना रहे हैं। विश्व बैंक का मानना है कि बड़े निवेशकों के कृषि योग्य जमीन खरीदने से कृषि में तकनीक का प्रयोग बढ़ेगा, जिससे पैदावार बढ़ेगी और आने वाले समय में भूखमरी को भी रोकने में सहायता मिल सकेगी। विश्व बैंक की रिपोर्ट में यह भी उल्लेखनीय है कि इस समय दुनिया में लगभग एक अरब लोग भूखमरी के शिकार हैं। विश्व बैंक ने यह भी आगाह किया है कि धनी देशों के बड़े निवेशकों के इस कदम के हालाँकि कई प्रकार के पर्यावरणीय एवं सामाजिक खतरे भी हैं। विश्व बैंक ने आगाह किया है कि इससे विकासशील देशों के छोटे किसानों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा है। आज देश की "अर्थव्यवस्था में कुल रोजगार का लगभग 50 प्रतिशत हिस्सा कृषि क्षेत्र से ही उत्पन्न होता है। जनगणना वर्ष 2011 के अनुसार कृषि क्षेत्र से ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले 70 प्रतिशत लोगों को रोजगार मिलता है।" कृषि की महत्ता एवं सार्थकता को रेखांकित करने के लिए यह पर्याप्त है।

'धान का कटोरा' : गुम होती पहचान

छत्तीसगढ़, पूरी दुनिया में 'धान का कटोरा' अथवा 'धान का भण्डार' के नाम से भले ही जाना जाता है लेकिन इस समय प्रदेश में कृषि एवं खेती-किसानी की हालत बहुत

अच्छी नहीं है। "देश में 'धान उत्पादन' के मामले में छत्तीसगढ़ का स्थान सातवाँ और 'धान उत्पादकता' के मामले में पूरे देश में सबसे अन्तिम पायदान पर है। छत्तीसगढ़ से ज्यादा धान का उत्पादन पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, आन्ध्रप्रदेश-तेलंगाना, पंजाब, बिहार एवं उड़ीसा में होता है, जबकि प्रति हेक्टेयर उत्पादकता के मामले में छत्तीसगढ़ पूरे देश में मध्यप्रदेश के साथ सबसे अन्तिम पायदान पर है। इस समय देश की उच्च औसत उत्पादकता प्रति हेक्टेयर 2500 किग्रा है, जो पंजाब, तमिलनाडु और आन्ध्रप्रदेश तीन राज्यों में ही है। हरियाणा, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, केरल आदि राज्यों की औसत उत्पादकता 2000 से 2500 किग्रा के मध्य है। जबकि देश में सबसे कम प्रति हेक्टेयर औसत उत्पादकता मात्र 1000 किग्रा मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ की है।"[11]

स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ औसत उत्पादन और औसत उत्पादकता दोनों ही मामले में देश में अच्छी स्थिति में नहीं है। फिर भी हमारी सरकार कृषि का ढिंढोरा पिटती रहती है कि प्रदेश में कृषि की विकास दर बहुत ऊँची है, जबकि हालात बिल्कुल उल्टे हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं कि प्रदेश में कृषि के क्षेत्र में सरकार ने कुछ भी नहीं किया है। राज्य सरकार कृषि विकास को विशेष महत्व देते हुए वर्ष 2012-13 से पृथक् 'कृषि बजट' प्रस्तुत कर रही है। सरकार का दावा है कि देश के कृषि विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा राज्य सरकार को लगातार पिछले तीन वर्षों से 'कृषि कर्मण पुरस्कार' मिल रहा है। किसानों को करोड़ों रुपये छूट, सहायता, अनुदान के रूप में दे रही है लेकिन इसका लाभ कृषि विकास को नहीं मिल रहा है। राज्य में खेती-किसानी एवं किसानों की स्थिति वैसी नहीं है जैसा सरकार दावा करती है। राज्य में उत्पादन वैसा नहीं बढ़ रहा है जैसा सरकार बताती है फलस्वरूप किसानों में दिनोंदिन आत्महत्या करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

मानसून की बढ़ती अनिश्चितता : खेती-किसानी के लिए बढ़ती चिन्ता

देश-प्रदेश में पिछले कुछ वर्षों से लगातार अकाल एवं सूखे अथवा कम वर्षा की स्थिति बनती जा रही है। मानसून की अनिश्चितता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, जिसके कारण आने वाले दिनों में रबी फसलों के लिए पानी, पशुओं के लिए पानी एवं चारा की कमी, उद्योगों के लिए पानी और लोगों के लिए पीने के पानी की कमी की समस्या बड़ी विकट एवं विकराल होने लगेगी। पिछले कुछ वर्षों से देश के कई राज्यों के लगभग सभी बड़े बाँधों में औसत जलभराव की स्थिति शत-प्रतिशत नहीं रहती है, जिसका सीधा प्रभाव औद्योगिक उत्पादनों पर भी पड़ने लगा है। इस तरह इसका सीधा प्रभाव खेती-किसानी एवं किसान परिवारों पर पड़ता है, वहीं इसका परोक्ष प्रभाव उपभोक्ता बाजार, उद्योग धन्धों, उद्यमियों, उद्योगपतियों सहित पूरे बाजार पर पर पड़ता है। इससे राज्य में महँगाई बढ़ेगी तथा ग्रामीण क्षेत्रों से भारी मात्रा में पलायन होगा। कृषि विशेषज्ञों, किसानों, जलवायु-मौसम वैज्ञानिकों एवं खेती-किसानी से जुड़े जानकारों की मानें तो पूरे देश में 1965 को छोड़कर एक साथ अकाल एवं सूखा पड़ने अथवा कम वर्षा होने के उदाहरण याद नहीं आते हैं। इसके बावजूद

2001-02, 2008-09, 1988-89, 1979-80, 1970-71 और 1965-66 में आंशिक अकाल या अवर्षा की स्थिति आ चुकी है। इसमें 1965-66 का सूखा एवं अकाल तो भयंकर था जिसने समूची भारतीय अर्थव्यवस्था को झकझाोर कर रख दिया था।[12]

किसानों की लगातार बढ़ती आत्महत्या

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की वर्ष 2014 के लिए जारी रिपोर्ट के अनुसार किसानों की खुदकुशी के मामले में देश में महाराष्ट्र, तेलंगाना एवं मध्यप्रदेश में सबसे ऊपर हैं। खेती की बढ़ती लागत और खेती-किसानी में हो रहे लगातार भारी नुकसान को इसका कारण बताया गया है। उल्लेखनीय है कि देश के 75-90 प्रतिशत किसान सीमान्त कृषकों की श्रेणी में आते हैं लेकिन उनके पास कुल कृषि भूमि का मात्र 30 प्रतिशत रकबा ही है। कृषि लागतें बढ़ने के कारण यह वर्ग अधिक परेशान है क्योंकि यह वर्ग कम पढ़ा-लिखा है जो सरकारी योजनाओं, छूट, सहायता, बैंकिग-बीमा एवं कर्जमाफी सुविधाओं आदि का लाभ नहीं ले पाता है। सरकार का कहना है कि देश में आर्थिक विकास, कृषि विकास दर बहुत अच्छी है। देश में कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में लगातार बढ़ोतरी हो रही है, यदि ऐसा है तो फिर हर साल हजारों किसान आत्महत्या क्यों कर रहे हैं? किसानों की आमदनी उस अनुपात में क्यों नहीं बढ़ रही है? कृषक परिवारों का जीवन स्तर क्यों नहीं बढ़ रहा है? किसान अपने बच्चों को महँगे स्कूलों में क्यों नहीं पढ़ा पा रहे हैं? किसान एवं उनका परिवार फटेहाल, बदहाल क्यों हैं? यदि आर्थिक विकास, कृषि विकास, कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में बढ़ोतरी का लाभ किसान परिवारों को नहीं मिल पा रहा है तो सही मायनों में इसे कृषि विकास या विकास कतई नहीं माना जा सकता है।

कृषि एवं कृषि विकास की प्रमुख चुनौतियाँ एवं समस्याएँ

देश में कृषि विकास के लिए नीतियों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों की कमी नहीं है, इसके बावजूद कृषि क्षेत्र में गम्भीर चुनौतियाँ एवं समस्याएँ हैं, जिन पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने की जरूरत है। कुल उत्पादन एवं उत्पादकता दोनों ही मामले पर देश तरक्की कर रहा है, इसके बावजूद भारत, चीन, जापान आदि कई देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ है।

खेती-किसानी में रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशक दवाइयों के अन्धाधुन्ध प्रयोग के कारण कृषि भूमि की गुणवत्ता एवं उर्वराशक्ति दिनोंदिन गिरती जा रही है। देशभर में तेजी से कृषि भूमि की जमीन जहरीली होती जा रही है। रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशक दवाइयों के अन्धाधुन्ध उपयोग के कारण प्रति एकड़ या हैक्टेयर कुल उत्पादकता या पैदावार बढ़ तो रही है लेकिन जमीन की मौलिक उर्वराशक्ति लगातार गिर रही है, जो बेहद चिन्ता की बात है।

देश में जल स्तर लगातार गिरता जा रहा है जिसका रबी फसल पर प्रभाव पड़ता है, जो बेहद चिन्ता की बात है। आज भी प्रदेश की 72-75 प्रतिशत कृषि मानसूनी वर्षा पर निर्भर

है। सरकार ने पिछले वर्षों में इस पर कोई ठोस काम नहीं किये। सिंचाई सुविधा बढ़ाने के लिए कोई नये कार्य नहीं किये जा रहे हैं, फलस्वरूप आज इस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। कृषि पर व्यापार उदारीकरण का प्रभाव एवं वैश्विक जलवायु एवं मौसम परिवर्तन एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आ रहा है।

कृषि जोतों की संख्या का बढ़ते जाना एवं जोतों का आकार का कम होना देश की एक बहुत बड़ी समस्या बनती जा रही है। कृषि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव बनता जा रहा है। राज्य में फसल विविधिकरण या फसल चक्र का अभाव है, जिसके कारण राज्य में कृषि का असन्तुलित विकास हो रहा है। कृषि सहकारिता में भारी भष्ट्राचार है। किसानों को महँगे प्रामाणिक बीज, दवाइयाँ, उर्वरक, बीमा दिये जा रहे हैं, जिसका भार उठाने में किसान असमर्थ हो रहे हैं।

राज्य के कृषि क्षेत्र में पूंजीपतियों का निवेश दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। राज्य में कृषि विकास के लिए जो निवेश हो रहा है वह अधिकांशत: पूंजीपतियों, उद्योगपतियों एवं बड़े किसानों द्वारा हो रही है जिससे सरकार द्वारा कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली आर्थिक सहायता इन्हीं वर्ग के लोगों के खाते में जा रही है। सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता में उर्वरक, सिंचाई, खाद, बीज, कृषि यन्त्र एवं उपकरण, विद्युत और फसल बीमा पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता सम्मिलित होती है। लेकिन चिन्ता की बात यह है कि सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता से कृषि क्षेत्र का विकास नहीं हो पा रहा है बल्कि इसका दुरुपयोग अधिक हो रहा है। सरकार के दी जाने वाली इस आर्थिक सहायता का अधिकांश हिस्सा बड़े किसान ले रहें हैं और छोटे एवं मध्यम किसानों को इसका लाभ नहीं मिल पा रहा है। इसलिये सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता अपना प्रभाव छोड़ने में असफल रही है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठता है कि कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली सहायता न तो न्यायसंगत है और न ही फलोत्पादक। इस पर राज्य सरकार को गम्भीरता से सोचने की जरूरत है।

देश की अधिकांश कृषि खुदकाश्त पद्धति के अन्तर्गत आती है, जिसके कारण कृषि में प्रौद्योगिकी का प्रयोग व्यापक रूप से नहीं हो रहा है और प्रति एकड़/हेक्टेयर उत्पादकता बहुत कम है। उत्पादों के भंडारण की अपर्याप्त व्यवस्था के कारण इसके खराब होने की समस्या आम है।

फसलचक्र अपनाकर ही सन्तुलित कृषि-विकास एवं कृषि-आत्मनिर्भरता सम्भव है

अब समय आ गया है कि सरकार जागे और कृषि, खेती-किसानी एवं किसानों की वास्तविक समस्याओं का उचित समाधान प्रस्तुत करने के लिए सार्थक पहल करे। इस समय प्रदेश में वास्तविक स्थिति इतनी खराब नहीं है, लेकिन सरकार इसका सतही समाधन करेगी तो भविष्य में यह स्थिति बेकाबू हो सकती है। सरकार तत्काल निम्न कार्य करे तो आने वाले समय में आधी समस्या का निदान हो सकता है।

देशभर में जितने भी छोटे-बड़े नदी-नाले हैं उनमें हजारों की संख्या में 'एनीकट' बनाये जाने चाहिए। इससे जहाँ एक ओर वर्षा जल का संरक्षण हो सकेगा, राज्य का गिरते भू-जल स्तर पर लगाम लगेगी, वहीं दूसरी ओर उस पानी से खरीफ एवं रबी दोनों मौसम में सिंचाई भी हो सकेगी और नदी-नालों के आसपास पेड़-पौधे पनपने लगेंगे, जिससे राज्य में पर्यावरणीय-पारिस्थिकीय सन्तुलन भी बना रहेगा।

रबी के मौसम में धान की फसलों के उत्पादन को हतोत्साहित किया जाये और फसल विविधिकरण या 'फसल चक्र' अपनाने के लिए किसानों को तैयार किया जाए। चूंकि वर्षा की स्थिति दिनोंदिन कम होती जा रही है और गर्मी में धान के उत्पादन के लिए भारी मात्रा में पानी की जरूरत होती है इसलिये यह जरूरी है कि रबी मौसम में दलहन, तिलहन, सब्जियों एवं अन्य नकदी फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाये। राज्य के अलग अलग हिस्सों में गेहूँ, चना, सोयाबीन, मूँगफली, उड़द, मूँग, आलू, प्याज, लहसुन, सूरजमुखी, अरहर, तिल, अलसी, सरसों, फल-फूल एवं अन्य सब्जियों आदि के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए किसानों को प्रोत्साहित किया जाए। इस सम्बन्ध में नीतियाँ बनायी जाने से प्रदेश में कृषि का सन्तुलित विकास होगा, गिरता भूजल स्तर रुकेगा, भूमि की उर्वराशक्ति बनी रहेगी और महँगाई रुकेगी। सार यह है कि राज्य में फसल चक्र अपनाये बगैर कृषि में आत्मनिर्भरता की संकल्पना को साकार करना असम्भव है।

पूरे प्रदेश में अनिवार्य रूप से 'शराबबन्दी' लागू की जाये। आज ग्रामीण क्षेत्र में श्रमिकों-किसानों की जो आत्महत्याएँ या अन्य अपराध हो रहे हैं उसके लिए एकमात्र जिम्मेदार मदिरापान है। कृषक अधिकाधिक उत्पादन लेने, लाभ कमाने, विकास करने के नाम पर कर्ज के जाल में डूबते जा रहे हैं और जब उन्हें लगता है कि स्थिति बेकाबू होती जा रही है तो अशिक्षा एवं अज्ञानता के कारण शराब आदि नशीले पदार्थों की गिरफ्त में फँस जाते हैं और अन्ततः आत्महत्या जैसे गम्भीर कदम उठा लेते हैं। इसलिये शराबबन्दी होनी ही चाहिए। यदि सरकार इस कार्यों को करने में सफल हो जाती है तो इससे राज्य के ग्रामीण विकास को भी एक नया आयाम मिलेगा।

उपसंहार

किसी भी अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक विकास में कृषि क्षेत्र के विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह तथ्य इस मायने में और महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि किसी भी अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों का विकास कृषि क्षेत्र के विकास पर ही निर्भर करता है। यह बात अलग है कि कालान्तर में अर्थव्यवस्था के विकास के साथ अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व घटता चला जाता है, लेकिन यह कहना कतई ठीक नहीं है कि किसी अर्थव्यवस्था के विकास के किसी भी समय में कृषि क्षेत्र का योगदान एकदम समाप्त हो जाएगा। अर्थव्यवस्था के गैर कृषि क्षेत्रों को विभिन्न प्रकार के कच्चे मालों की आपूर्ति करना तथा लोगों को खाद्यान्न उपलब्ध करवाना हर समय कृषि क्षेत्र की ही जिम्मेदारी रहेगी। अर्थव्यवस्था के विकास के साथ

परिवर्तन केवल यह होता है कि अर्थव्यवस्था के विकास के प्रारम्भकर्ता की अपेक्षा औद्योगिक एवं सेवा क्षेत्र का एक सहयोगी एवं सहायक बन जाता है।

अब समय आ गया है कि रबी मौसम में धान की फसलों के उत्पादन को हतोत्साहित करते हुए किसानों को फसल विविधिकरण अथवा 'फसल चक्र' अपनाने के लिए तैयार किया जाए। चूंकि वर्षा की स्थिति दिनोंदिन कम होती जा रही है और गर्मी में धान के उत्पादन के लिए भारी मात्रा में पानी की जरूरत होती है, इसलिये यह जरूरी है कि रबी मौसम में गेहूँ, दलहन, तिलहन, फल, फूल, साग-सब्जियों एवं अन्य नकदी फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाये। इससे कृषि का सन्तुलित विकास होगा, गिरता भूजल स्तर रुकेगा, भूमि की मौलिक उर्वराशक्ति बनी रहेगी और अन्ततः महँगाई रोकने में कामयाबी मिलेगी। सार यह है कि 'फसल चक्र' वक्त की जरूरत है।

महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा है कि भारत गाँवों का देश है और कृषि भारत की आत्मा है। सचमुच में भारत आज भी गाँवों का देश है और सदियों तक रहेगा और देश-दुनिया में जब तक गाँव रहेंगे, जब तक इंसान रहेंगे, तब तक कृषि का वर्चस्व एवं अस्तित्व दोनों रहेगा, क्योंकि कृषि क्षेत्र की उपेक्षा एवं अनदेखी करके कोई भी देश कभी भी विकास के शिखर पर नहीं पहुँच सकता है।

सन्दर्भ

1. अग्रवाल, एन.एल. (1977) *भारतीय कृषि का अर्थतन्त्र*
2. मिश्र, जे.पी. (2004) *कृषि अर्थशास्त्र*
3. दास, हरसरन (2004-05) *कृषि अर्थशास्त्र- भारतीय कृषि की समस्याएँ*
4. सोनी, आर.एन. (2004) *कृषि अर्थशास्त्र*
5. भारत सरकार के विभिन्न वर्षों के बजट भाषणों एवं आर्थिक सर्वेक्षण रिपोर्ट सहित विभिन्न विभागों एवं मन्त्रालयों की सरकारी वेवसाइट, कृषि विभाग की वेवसाइट, कृषि मन्त्रालय, उप संचालक कृषि तथा कई राज्यों की सरकारी वेबसाईट इत्यादि स्रोत सन्दर्भों से विषय की समझ विकसित की गई है।
6. इसी तरह देश के प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों जैसे-देशबन्धु, नवभारत, भास्कर, नई दुनिया, पत्रिका, हरिभूमि, द इकोनॉमिक टाइम्स, डिजिटल प्लेटफार्म पर प्रकाशित द वायर, दि प्रिंट, डाउन टू अर्थ, देश टीवी, देश डिजीटल इत्यादि लिंक एवं स्रोत सन्दर्भों की सहायता ली गई है।
7. योजना (2011) : प्रकाशन विभाग नई दिल्ली, जून, सम्पादकीय, पृष्ठ 5
8. गुलाटी, अशोक एवं जैन, सुरभी (2014) : 'भारत में कृषि संवर्धन में निवेश की महत्ता' योजना, प्रकाशन विभाग नईदिल्ली, जून 2014, पृष्ठ 6
9. कुरुक्षेत्र (2015) : प्रकाशन विभाग नईदिल्ली, सितम्बर 2015
10. नेशनल सेम्पल सर्वे ऑर्गनाइजेशन (एनएसएसओ) : 70 वाँ सर्वेक्षण रिपोर्ट
11. साईंनाथ, पी. (2015) : 'किसान आत्महत्या : 5 बदतर राज्यों की तस्वीर' बीबीसी समाचार
12. इंडिया-हेंडबुक ऑफ स्टेटिस्टिक्स (2012-13), 'टॉप 10 राइस प्रोड्यूसिंग स्टेट्स ऑफ इंडिया, (http://www.mapsofIndia.com/topten/India-crops/rice.html एवं स्टेटस ऑफ प्रोडक्टिविटी : Maps, http://drd.dacnet.nic.in/HS-Map-02.htm).

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 56-64)

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की शिक्षण अधिगम में प्रासंगिकता

शशि रंजन* एवं शिरीष पाल सिंह†

आलोचनात्मक सिद्धान्तकार उत्पीड़ितों को मुक्ति दिलाने में मदद करके समाज को बदलना चाहते थे, वे व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक ताकतों की एक विस्तृत श्रृंखला की आलोचना करते हैं। इस विचारधारा के विचारकों ने सामाजिक प्रभुत्व के अस्तित्व को बेहतर ढँग से समझने और छात्रों को उत्पीड़न के विरोध में चुनौती देने के लिए आवाज उठाने की माँग की। आलोचनात्मक ज्ञान विशेषाधिकार प्राप्त समूह के लिए भी सहायक है, जो इसका उपयोग यह महसूस करने के लिए करते हैं कि वे दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन कर रहे हैं। फ्रेरे ने उत्पीड़ितों को आवाज उठाने और उसकी समझ को विकसित करने के लिए एक क्रमिक सांस्कृतिक क्रान्ति की स्थापना की। इस सन्दर्भ में उन्होंने शिक्षा प्रणाली में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का परिचय दिया। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र में प्रैक्सिस जीवन का एक आविष्कारशील तरीका है जो दुनिया या समाज को बदलने के लिए स्वतन्त्र, रचनात्मक प्रतिबिम्ब और विचारशील कार्य करने को प्रोत्साहित करता है। प्रस्तुत शोध आलेख वर्तमान शिक्षण अधिगम परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की शिक्षण अधिगम में प्रासंगिकता पर वर्णित है।

*पी-एच.डी. शोधार्थी, शिक्षा विभाग, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा
E-mail: shashikroy@gmail.com
†आचार्य, शिक्षा विभाग, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
E-mail: shireeshsingh1982@gmail.com

प्रस्तावना

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था अपनी प्रक्रिया और उद्देश्यों के सन्दर्भ में जिसके प्रति (विद्यार्थी) सबसे अधिक प्रतिबद्ध होने का ढिंढोरा पीटती है वास्तव में उस प्रक्रिया के संचालन एवं निर्धारण में विद्यार्थी की कोई सहभागिता नजर नहीं आती है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो उच्च शिक्षा व्यवस्था में सबसे मूलभूत लक्ष्य विद्यार्थी के भीतर स्वतन्त्रता, संवेदनशीलता, विवेक, सृजनात्मकता और आलोचनात्मक चिन्तन आदि को विकसित करना सिरे से ही गायब दिखता है। वर्तमान में विद्यार्थी के व्यक्तित्व, उसकी सोच, तार्किक क्षमता, सृजनात्मकता को केन्द्र में रखते हुए स्कूल स्वयं को उसके अनुसार ढालने की अपेक्षा विद्यार्थियों को अपेक्षित और दमित करते हुए स्कूल के संसाधनदाता समाज, सरकार या पूंजीवादी प्रतिष्ठान के प्रबन्धकों के अनुरूप ढालने का प्रयास करते हुए नजर आते हैं। वे उपलब्ध कराई जा रही शिक्षा से विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिन्तन, तार्किक क्षमता एवं यथास्थिति को समझने एवं चुनौती देने की क्षमता का विकास करने में असमर्थ नजर आते हैं। यदि इन सभी परिस्थितियों के मूल कारण को खोजने का प्रयास किया जाए तो ज्ञात होता है कि शिक्षा के उपलब्ध ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक बिना किसी परिवर्तन के हस्तान्तरित करने की क्रिया और अध्यापक को इसके यान्त्रिक माध्यम के रूप में देखा जाता है अर्थात् अध्यापक समाज को यथास्थिति कायम रखने के एक सशक्त औजार के रूप में काम करता है (पाठक, 2017)। अध्यापक उपलब्ध परम्परागत ज्ञान का वाहक ही बनकर रह गये हैं। जब तक शिक्षा को केवल स्थिर वस्तु के हस्तान्तरण करने की क्रिया और अध्यापक को उसका यान्त्रिक माध्यम माना जाता रहेगा तब तक विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिन्तन एवं तर्कशक्ति को विकसित कर पाना असम्भव है। अत: आवश्यक है कि शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में नये शिक्षणशास्त्र को सम्मिलित किया जाए जिससे विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिन्तन एवं तार्किक शक्ति को जाग्रत किया जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र को स्थान दिया जाए और अध्यापक स्वयं आलोचनात्मक तरीके से शिक्षण कार्य प्रारम्भ करे जिसके अन्तर्गत वह समस्या की पहचान, समस्या का विश्लेषण, समस्या के समाधान के लिए कार्य योजना का निर्माण एवं कार्य योजना के मूल्यांकन को शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में सम्मिलित करे। अध्यापक के पास अधिकार है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह सत्तावादी बन जाए। वह अपने सांस्कृतिक एवं सामाजिक पहलुओं को सीखने में मदद करने के लिए हस्तक्षेप करता है और विद्यार्थी को आलोचनात्मक रूप से सोचने में मदद करता है। अध्यापक और विद्यार्थी के बारे में उनका यह दृष्टिकोण मानवीय सम्बन्धों को बढ़ावा देता है। अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा संवाद करने में विफलता के कारण शिक्षण संस्थानों में हमेशा हड़तालें और प्रदर्शन हुए हैं (रुगुत एवं ओसमान, 2013)। इस स्थिति में सुधार हेतु विद्यार्थियों और अध्यापकों को अपनी जाति, वर्ग और समुदाय से प्राप्त विशेषाधिकारों से अनजान बनकर एक-दूसरे के साथ संवाद में सम्मिलित होना चाहिए जिससे वे अपने अनुभवों को एक-दूसरे के साथ साझा कर सकें (हुक्स, 1994)।

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का विकासक्रम

बीसवीं शताब्दी के मध्य में, यूरोप की अर्थव्यवस्था पर सरकारी वर्चस्व, सामाजिक समानता की कमी, सामाजिक और सांस्कृतिक आधिपत्य की उपस्थिति, श्रम आन्दोलनों की महत्ता और सरकारी सत्ता के तानाशाही रवैये के कारण शिक्षा जगत में आलोचनात्मक चिन्तन का आन्दोलन शुरू हुआ। आलोचनात्मक चिन्तन की उत्पत्ति फ्रैंकफर्ट स्कूल से हुई और यह विचारधारा तथा सिद्धान्त शिक्षा जगत के तात्कालिक विद्वानों के चिन्तन से सम्बन्धित है (उद्दीन, 2019)। हेबरमास, होर्खाइमर, एडोर्नो और ग्राम्स्की आलोचनात्मक सिद्धान्त आन्दोलन के अग्रणी माने जाते हैं (मह्मौदी, खोश्नूद एवं बबैई, 2014)। व्यक्ति, समूह और समाज के उत्पीड़न को समझना आलोचनात्मक सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है। ये उत्पीड़न बाहरी ताकतों (सत्ताधारी, पूंजीपति, समाज का वर्चस्वकारी वर्ग) एवं स्वयं के जरिये लगाये या बनाये जा सकते हैं। आलोचनात्मक सिद्धान्तकार उत्पीड़ितों को मुक्ति दिलाने में मदद करके समाज को बदलना चाहते थे, वे व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक ताकतों की एक विस्तृत श्रृंखला की आलोचना करते हैं। ऐप्पल, डार्डर, गिरौक्स, ग्राम्स्की, इलिच, किन्चेलोए, मैक्लारेन, हुक्स, शोर, स्टेनबर्ग और कई अन्य दार्शनिकों की पहचान आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तकारों के रूप में की जाती है (काया एवं काया, 2017)। यह शिक्षणशास्त्र आलोचनात्मक सिद्धान्त से विकसित हुआ है। इस विचारधारा के विचारकों ने सामाजिक प्रभुत्व के अस्तित्व को बेहतर ढँग से समझने और छात्रों को उत्पीड़न के विरोध में चुनौती देने के लिए आवाज उठाने की माँग की। आलोचनात्मक ज्ञान विशेषाधिकार प्राप्त समूह के लिए भी सहायक है, जो इसका उपयोग यह महसूस करने के लिए कर सकते हैं कि वे दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन कर रहे हैं।

पाउलो फ्रेरे ने आलोचनात्मक चिन्तन के आन्दोलन को एक नया मोड़ देते हुए आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र को शिक्षा की मुख्यधारा से जोड़ा। उनकी मातृभूमि, ब्राजील में उनके कड़वे अनुभवों ने उन्हें विद्यार्थियों की चुप्पी तोड़ने के लिए एक रास्ता (आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र) निकालने के लिए प्रेरित किया जिसके उपरान्त वे समकालीन शिक्षा में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बन गये। उन्होंने अपना अनुभव साझा करते हुए बताया कि उनके अध्यापक ने उन्हें किस प्रकार ज्ञान को हस्तान्तरित किया और विद्यार्थी कक्षा में, अपने अध्यापक द्वारा दिये गये ज्ञान को निष्क्रिय अधिगमकर्ता के रूप में सीखता एवं याद करता था तथा इसके विरुद्ध आवाज उठाने के लिए उनके पास कोई विकल्प नहीं था। यह शिक्षा अध्यापक केन्द्रित थी जिसे फ्रेरे ने 'शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा' के रूप में परिभाषित किया। यह शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें अध्यापकों द्वारा विद्यार्थियों के मस्तिष्क में ज्ञान जमा किया जाता है (फ्रेरे, 1970)। इस शिक्षण पद्धति में विद्यार्थियों द्वारा स्वयं नये ज्ञान का सृजन नहीं किया जाता था जिसके कारण उनका बौद्धिक एवं सामाजिक विकास नहीं हो पाता था। फ्रेरे ने यह महसूस किया कि अगर उत्पीड़ितों को उनकी आवाज नहीं मिली तो सामाजिक दमन, उत्पीड़न और असमानता जारी रहेगी। साथ ही उन्होंने यह भी महसूस किया कि अज्ञानता, अशिक्षा और मौन

की संस्कृति दमितों की आर्थिक स्थिति का परिणाम थी, भले ही इन लोगों को यह अहसास नहीं था कि वे अपने अधिकारों से वंचित थे (उद्दीन, 2019; महमौदी, खोश्नूद एवं बबैई, 2014)। फ्रेरे ने उत्पीड़ितों को आवाज उठाने और उसकी समझ को विकसित करने के लिए, एक क्रमिक सांस्कृतिक क्रान्ति की स्थापना की, जो लोगों को उत्पीड़न, वर्चस्व और अज्ञानता से मुक्त करने के लिए अभिकल्पित की गई थी। इस सन्दर्भ में उन्होंने शिक्षा प्रणाली में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का परिचय दिया।

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के सभी मूल विचार पूर्णत: नये नहीं हैं। यह शिक्षणशास्त्र मार्क्सवाद से उत्पन्न हुआ है। यह किसी भी अन्य नये दृष्टिकोण की तरह पूर्व निर्मित सिद्धान्तों और विचारों पर आधारित है। उदाहरणस्वरूप एक शताब्दी पूर्व छात्रों के ज्ञान निर्माण करने का विचार जॉन डीवी (1902) के अनुभववाद एवं कालान्तर में वायगोत्सकी (1978) के निर्माणवाद सिद्धान्त पर आधारित है (चो, 2016; गिब्सन, 1986)। उसी प्रकार आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का विकास कई सिद्धान्त जैसे - लैटिन अमेरिका का मुक्ति दर्शन, ब्राजीलियन अध्यापक पाउलो फ्रेरे का शिक्षणशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र, फ्रैंकफर्ट स्कूल का आलोचनात्मक सिद्धान्त, नारीवादी सिद्धान्त एवं नव-मार्क्सवादी सांस्कृतिक आलोचना पर आधारित है (मैक्लारेन, 2010)। शिक्षा के दर्शन के रूप में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की ऐतिहासिक जड़ें प्रगाढ़ हैं। इस बारे में कोई सहमति नहीं है कि आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की उत्पत्ति किसने की, यद्यपि सबसे प्रबल समर्थक के रूप में पाउलो रेग्लस नीव्स फ्रेरे को माना जाता है। फ्रेरे को आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का शुरूआती दार्शनिक कहा जाता है (मैक्लारेन, 2000)। ब्राजीलियन शिक्षाविद् फ्रेरे को कई अन्य आलोचनात्मक शिक्षाविदों के लिए एक महत्वपूर्ण प्रतिपालक के रूप में जाना जाता है। वे अपनी पुस्तक 'पेडागोजी ऑफ द ओप्रेस्ड' (1970) के प्रभावशाली आलोचनात्मक विचारों के कारण विश्व-विख्यात हुए जिसे आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के अध्ययन हेतु एक मौलिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र शिक्षण अधिगम में प्रासंगिकता

वर्तमान शिक्षा में शिक्षणशास्त्र की प्रासंगिकता बहुत मायने रखती है क्योंकि शिक्षण अधिगम में शिक्षणशास्त्र का अपना विशेष स्थान होता है। जैसा शिक्षणशास्त्र का प्रयोग अध्यापक करते हैं वैसा ही अधिगम कार्य सफल होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक यदि रचनात्मक शिक्षणशास्त्र का प्रयोग करता है तो होने वाला अधिगम भी रचनात्मक तरीके का होगा। इसलिये वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए अध्यापक को आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का प्रयोग अपनी कक्षा में करना चाहिए जिससे विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिन्तन को विकसित किया जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि अध्यापक शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में निम्नलिखित विधियों को सम्मिलित करें -

समस्या-समाधान विधि

बैंकिंग शिक्षा प्रतिमान का उपयोग करने वाले कुछ उपकरण में पूर्व-निर्धारित पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम या पाठ्य-पुस्तक सम्मिलित हो सकती है, जिसके आधार पर विद्यार्थियों के विचारों या ज्ञान की धारणा को बनाया जाता है। फ्रेरे ने इन पूर्व-निर्धारित योजनाओं और पाठ्यक्रम की पुस्तकों को प्रथम पुस्तक कहा है (रुगुत एवं ओसमान, 2013)। फ्रेरे ने तर्क दिया कि पारम्परिक शिक्षण अभिजात्य वर्ग का उपकरण था क्योंकि यह विद्यार्थियों को उन वस्तुओं (खाली पात्र) के रूप में मानता था जिनमें ज्ञान जमा किया जाता है। उनके लिए वास्तविक शिक्षा, केवल जीवन्त अनुभव, आलोचनात्मक प्रतिबिम्ब और अभ्यास (प्रैक्सिस) के माध्यम से हासिल की जा सकती थी (एरोनोशित्ज़, 1993)। बैंकिंग शिक्षा, शिक्षा का अच्छा तरीका नहीं माना जाता है क्योंकि विद्यार्थी की इसमें सक्रिय प्रतिभागिता नहीं होती थी। इसलिये शिक्षा का उत्तम तरीका ऐसा हो जिसमें विद्यार्थियों को भाग लेने की अनुमति दी जानी चाहिए साथ ही उसे अपने आस-पास के परिवेश एवं पहले से सीखे हुए अनुभवों को स्वेच्छा से अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

बैंकिंग शिक्षा प्रतिमान को चुनौती देने के लिए फ्रेरे ने शिक्षा का एक समस्या-समाधान प्रतिमान पेश किया। इस प्रतिमान में, अध्यापक और विद्यार्थी अपने अनुभवों, भावनाओं और ज्ञान पर एक साथ चर्चा और विश्लेषण करते हैं। इस विश्वास की अपेक्षा कि दुनिया में विद्यार्थियों और अध्यापक की स्थिति पूर्व-निर्धारित है, जैसा कि शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा बताता है। वहीं समस्या-समाधान प्रस्तुत करने वाला प्रतिमान समस्याओं एवं समाधानों की खोज करता है जिसमें लोग स्वयं को ऐसी स्थिति में पाते हैं जिससे कि समस्याओं को रूपान्तरित कर सकने में सक्षम होते हैं (मैक्लारेन, 2000)। समस्याओं का समाधान प्रदान करना अध्यापक का काम नहीं है, वरन् विद्यार्थियों को समस्या-परक स्थिति के बारे में आलोचनात्मक सोच को विकसित करने के लिए प्रेरित करना है। इससे यह समझना सम्भव है कि दुनिया या समाज की कोई भी समस्या - जो सम्भवत: परिवर्तनशील है - निश्चित या स्थिर नहीं है। इस प्रक्रिया को सफलतापूर्वक करने के लिए लोगों (उत्पीड़ित) को प्रमुख समूह (उत्पीड़क) की धारणा को चुनौती देनी होगी। विद्यार्थी अपनी आलोचनात्मक सोच, अनुभवों और भावनाओं के विश्लेषण के आधार पर सर्वोत्तम उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं, जैसा कि यह कई संस्थानों में भी देखा जाता है कि सबसे अच्छे प्रदर्शन करने वाले विद्यार्थी उस विषय के होते हैं जिसमें विद्यार्थी व्यावहारिक रूप से कार्य करते हैं, उदाहरण के लिए कृषि, कला और शिल्प, गृह विज्ञान आदि (रुगुत एवं ओसमान, 2013)।

संस्कृति चक्र

फ्रेरे ने शिक्षा को कक्षा तक सीमित न रखकर संस्कृति चक्र के आधार पर ज्ञान सृजन करने की बात कही, जहाँ विद्यार्थी अपनी साझा समझ का उपयोग यह जानने के लिए करते हैं कि उनकी दुनिया कैसे निर्मित हुई है और उनके भविष्य को बदलने/आकार देने के

लिए कैसे काम करना चाहिए (मेड्रान एवं जोप्लिंग, 2005)। फ्रेरे की शिक्षा संवाद प्रणाली का ठोस आधार संस्कृति चक्र है, जिसमें विद्यार्थी और अध्यापक मिलकर उन जेनरेटिव विषयों पर चर्चा करते हैं जिनका विद्यार्थियों के जीवन में महत्व है (फ्रेरे, 1988)। ये जेनरेटिव विषय जो अध्यापक-विद्यार्थी के सम्बन्धों, संस्कृति, कार्य और प्रकृति से सम्बन्धित हैं, की खोज अध्यापकों और विद्यार्थियों के सहकारी शोध के माध्यम से की जाती है। इन विषयों को संहिताओं/कोडिंग (आमतौर पर दृश्य निरूपण) के रूप में दर्शाया जाता है जिन्हें संस्कृति चक्र के भीतर संवाद के आधार के रूप में लिया जाता है। जैसे ही विद्यार्थी इन दृश्य निरूपण को डिकोड करते हैं, वे उन्हें उन स्थितियों के रूप में पहचानते हैं जिनमें वे स्वयं विषयों के रूप में सम्मिलित होते हैं। डिकोडिफिकेशन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके तहत एक समूह के लोग स्थिति के पहलुओं की पहचान करना तब तक शुरू नहीं करते हैं जब तक कि वे स्वयं को उस स्थिति में महसूस नहीं करते हैं और इसके विभिन्न पहलुओं पर आलोचनात्मक रूप से चिन्तन करने में सक्षम नहीं होते हैं, इस प्रकार वे डिकोडिफिकेशन के माध्यम से अपनी समझ को विकसित करने में सफल होते हैं। यह एक फोटोग्राफर की तरह है जो अमूर्तन के जरिये अस्तित्वगत यथार्थ को मूर्तता तक ले जाता है (मैक्लारेन, 2000; उपाध्याय, 1996)। आलोचनात्मक चेतना के गठन की प्रक्रिया तब शुरू की जाती है जब विद्यार्थी केवल अनुभव करने की अपेक्षा उनकी स्थिति में संहिताओं/कोडिंग को पढ़ना सीखते हैं और यह समाज में विद्यार्थियों के हस्तक्षेप को सम्भव बनाता है। दृश्य संहिताकरण/कोडिफिकेशन उन शब्दों के साथ होता है जिनके साथ वे मेल खाते हैं। विद्यार्थी दुनिया के उन पहलुओं को पढ़ने की प्रक्रिया में इन शब्दों को पढ़ना सीखते हैं जिनके साथ वे जुड़े हुए हैं (मेयो, 1999)।

यद्यपि कोडिंग की यह प्रणाली वयस्क विद्यार्थियों के बीच मुद्रण साक्षरता को बढ़ावा देने में बहुत सफल रही है। फ्रेरे ने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि इसे यन्त्रवत् रूप से नहीं बल्कि चेतना के निर्माण और जागरूक करने की प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। फ्रेरे के अनुसार, केवल पाठ को डिकोडिंग के रूप में पढ़ने की बात करना सार्थक नहीं है बल्कि पढ़ना समाज में शक्ति और कार्य-कारण को समझने की एक प्रक्रिया है। प्रामाणिक शिक्षा हमेशा 'स्वतन्त्रता का अभ्यास' होती है (फ्रेरे, 1988)। अधिगम चक्र एक गैर-पदानुक्रम वर्ग प्रतिमान है जहाँ प्रतिभागी जनरेटिव थीम/विषय पर चर्चा करते हैं जिसका उनके वास्तविक जीवन में महत्व है। इसमें लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को अपनाया जाना चाहिए जहाँ हर व्यक्ति की आवाज का महत्व समान हो।

प्रैक्सिस

आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र का परिप्रेक्ष्य मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी विचारधाराओं से लिया गया है, जिसमें फ्रेरे ने कहा कि उत्पीड़ितों को स्वयं की पहचान बनाने के लिए उन्हें न केवल भूख की आजादी के लिए लड़ना होगा, बल्कि ज्ञान के सृजन, उद्यम निर्माण और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना होगा। इसलिये उन्होंने इस बात की वकालात की

कि अध्यापकों द्वारा विद्यार्थियों में ज्ञान जमा करने की अपेक्षा अभ्यास (प्रैक्सिस) विकसित करने का प्रयास करना चाहिए। प्रैक्सिस जीवन का एक आविष्कारशील तरीका है जो दुनिया या समाज को बदलने के लिए स्वतन्त्र, रचनात्मक प्रतिबिम्ब और विचारशील कार्य करने को प्रोत्साहित करता है जिसमें विद्यार्थी की भूमिका ज्ञान जमाकर्ता के रूप में न होकर अभ्यासकर्ता के रूप में बदल जाती है। यह परिवर्तन, संवाद और प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया के माध्यम से होता है। किसी नये तथ्य को जानने के क्रम में एक द्वन्द्वात्मक आन्दोलन सम्मिलित होता है जिसमें कार्यवाही से प्रतिबिम्ब तक और प्रतिबिम्ब से कार्यवाही तक, के माध्यम से एक नयी कार्यवाही तक जाता है। अगर पढ़ना और लिखना, सीखना है तो जानने के लिए एक अधिनियम/क्रम का गठन करना होगा, जिसमें विद्यार्थियों को रचनात्मक विषयों की भूमिका शुरू से माननी चाहिए। यह दिये गये पाठ्यक्रम, शब्दों और वाक्यांशों को याद करने और दोहराने की बात नहीं है बल्कि स्वयं पढ़ने और लिखने की प्रक्रिया और भाषा के गहन महत्व पर आलोचनात्मक रूप से प्रतिबिम्बित होती है। कक्षा में वास्तविक शिक्षा, अध्यापक और विद्यार्थी दोनों द्वारा कार्यवाही, संवाद, प्रतिबिम्ब और हस्तक्षेप के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। उपर्युक्त विधियों का प्रयोग करते हुए सफलता की कहानियाँ कई संस्थानों में बताई गयी हैं जहाँ अध्यापक विद्यार्थियों से नियमों एवं अधिनियमों का पालन कराते हुए स्वतन्त्र रूप से सीखने की अनुमति देते हैं (रुगुत एवं ओसमान, 2013)।

संवाद

फ्रेरे ने संवाद के लिए वकालत करते हुए कहा है कि निरन्तर संचार/संवाद किसी भी स्थिति में समृद्धि और जीत के लिए दरवाजे खोल देता है। जब अध्यापक और विद्यार्थी संवाद करते हैं तो हमेशा सफलता मिलती है। संवादपरक क्रिया सामाजिक वास्तविकताओं की मध्यस्थता को चुनौती देती है, उन्हें उन समस्याओं के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जिनका आलोचनात्मक रूप से विश्लेषण उन लोगों द्वारा किया जा सकता है जिनके पास उनका प्रत्यक्ष अनुभव है (फ्रेरे, 1997)। फ्रेरे का तर्क है कि संवाद केवल गहन समझ को विकसित करने के बारे में ही नहीं है वरन् दुनिया में यह लोगों के बीच अन्तर करने का हिस्सा है। यह प्रक्रिया महत्वपूर्ण है और इसे समुदाय को बढ़ाने और सामाजिक पूंजी के निर्माण के रूप में देखा जा सकता है जो न्याय और मानवीय उत्थान की ओर ले जाता है। संवाद करने के लिए प्रतिभागियों के बीच समानता होनी चाहिए। प्रत्येक को एक-दूसरे पर भरोसा करना चाहिए, परस्पर सम्मान और प्यार (देखभाल और प्रतिबद्धता) होना चाहिए। प्रत्येक को स्वयं से यह सवाल करना चाहिए कि वह क्या जानता है या उसे इस बात का अनुमान होना चाहिए कि संवाद के माध्यम से मौजूदा विचार में परिवर्तन होंगे जिससे नये ज्ञान का सृजन किया जा सकता है (मेयो, 1999)। अनौपचारिक शिक्षा संवाद या संवादात्मक है और इसमें एक-दूसरे के साथ काम करने वाले लोग एक-दूसरे का सम्मान करते हैं (गदोट्टी, 1994)।

संवाद वह साधन है जिसके द्वारा हम मनुष्य के रूप में महत्व प्राप्त करते हैं। संवाद मनुष्यों के बीच होने वाली मुठभेड़ है, जिनकी मध्यस्थता विश्व करता है एवं जो विश्व को नाम देने के लिए एक-दूसरे का सामना करते हैं। अत: जो विश्व को नाम देना चाहते हैं एवं जो विश्व को नाम नहीं देना चाहते हैं ऐसे लोगों के बीच संवाद कभी नहीं हो सकता (उपाध्याय, 1996)। फ्रेरे की राय है कि विद्यार्थी संवाद के माध्यम से वास्तविकता को समझना और बदलना सीखता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक और विद्यार्थी के बीच संवाद स्थापित हो, क्योंकि मनुष्य स्वयं को मौन में नहीं अपितु शब्द, कार्य, कर्म और चिन्तन के माध्यम से निर्मित करता है। इसलिये सीखने में संवाद एक महत्वपूर्ण तत्व है। दो विषयों (अध्यापक और विद्यार्थी) के बीच स्थापित संवाद पारस्परिक दयालुता को बढ़ाने में मदद करता है जो बहादुरी का काम है, कायरता का नहीं। सीखने की प्रक्रिया में सम्मिलित सभी लोगों को समूह संवादों के माध्यम से मुक्ति प्रदान की जा सकती है। इसके विपरीत, व्यक्तिगत एकालाप (मोनोलॉग) के आधार पर पढ़ाने से मौन और उदासीनता पैदा होती है और यह अत्याचार का एक बुनियादी रूप है।

निष्कर्ष

विद्यार्थियों में गम्भीर समझ के साथ ज्ञान का सृजन करने के लिए, अध्यापकों को कक्षा में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र को लागू करने की आवश्यकता है। शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में आलोचनात्मक शिक्षण कोई नयी रणनीति नहीं है। विद्यार्थियों के अधिगम एवं ज्ञान का सृजन करने में सुकरात से लेकर आज तक कई प्रमुख शिक्षाविदों एवं अध्यापकों ने विद्यार्थी-केन्द्रित दृष्टिकोण को अपनाया है। विद्यार्थियों की आलोचनात्मक जागरूकता एवं चिन्तन को बढ़ाना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है और विद्यार्थियों को मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए अध्यापक समाज का सबसे महत्वपूर्ण एवं जिम्मेदार नागरिक है जो उन्हें वास्तविक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं से सीखने के लिए प्रेरित करते हैं। फ्रेरे के शैक्षिक सिद्धान्त विद्यार्थियों की आलोचनात्मक चेतना के लिए हैं। वे चाहते थे कि शिक्षा, विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग और समाज के वंचित समूहों के बीच खाई को पाटे ताकि सभी विद्यार्थियों को शिक्षा में समान पहुँच और अवसर मिले जिससे विद्यार्थियों में कोई सामाजिक अन्तर न रहे। अध्यापक को यह नहीं समझना चाहिए कि ज्ञान केवल पाठ्यक्रम की सामग्री में छिपा है। अध्यापक विद्यार्थियों की अधिगम क्षमता एवं परिणाम को बढ़ाने हेतु कहानी, नाटक और सांस्कृतिक प्रस्तुतियों जैसे कई अन्य संसाधनों का उपयोग कर शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को प्रभावशाली तरीके से सम्पन्न कर सकता है। इस प्रकार के संसाधन विद्यार्थियों के लिए सहायक होते हैं, जिससे वे रचनात्मक रूप से सीखने एवं आलोचनात्मक रूप से सोचने में सक्षम होते हैं। अध्यापक एक ऐसा कक्षा समुदाय बना सकता है जहाँ विद्यार्थी अलग-अलग भूमिका निभा सकते हैं और उत्तम तरीके से ज्ञान का सृजन करने के लिए अपने ज्ञान को नियोजित करने का एक अवसर दे सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

उद्दीन, एम.एस. (2019) 'क्रिटिकल पेडागोजी एंड इट्स इम्प्लीकेशन इन द क्लासरूम', *जर्नल ऑफ अंडररिप्रेजेंटेड एंड माइनॉरिटी प्रोग्रेस,* 3(2), 109-119.

उपाध्याय, आर. (1996) *उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र* (अनुवाद संस्करण), ग्रन्थ शिल्पी, नयी दिल्ली, 69-84.

एरोनोवित्ज़, एस. (1993) 'पाउलो फ्रेरेस रेडिकल डेमोक्रेटिक ह्यूमनिस्म', इन पी. मैक्लारेन एंड पी. लियोनार्ड (एडिशन) *पाउलो फ्रेरे : ए क्रिटिकल एनकाउंटर,* 8-24. लन्दन : रूटलेज.

काया, सी. एवं काया, एस. (2017) 'पर्सपेक्टिव टीचर्स एजुकेशन बिलीफ एंड देयर व्यूज अबाउट द प्रिंसिपल्स ऑफ क्रिटिकल पेडागोजी', *जर्नल ऑफ एजुकेशन एंड लर्निंग,* 6(4), 181-190.

गदोट्टी, एम. (1994) *रीडिंग पाउलो फ्रेरे : हिज लाइफ एंड वर्क,* स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू यॉर्क, प्रेस.

गिब्सन, आर. (1986) *क्रिटिकल थ्योरी एंड एजुकेशन. लन्दन,* इंग्लैंड : होडर एंड स्तौघतों, पब्लिशिंग को.

चो, एस. (2016). *क्रिटिकल पेडागोजी, हिस्टोरिकल ऑफ इन : पीटर्स एम (एडिशन) इनसाइक्लोपीडिया ऑफ एजुकेशनल फिलोसोफी एंड थ्योरी,* स्प्रिंगर, सिंगापुर https://link.springer.com/referenceworkentry/10-1007%2F978-981-287-532-7_228-1

पाठक, आर.के. (2017) 'शिक्षण और शोध तथा शोधकर्त्ता के रूप शिक्षक-शिक्षिका', *परिप्रेक्ष्य,* 24(1), 83-94.

फ्रेरे, पी. (1970) *पेडागोजी ऑफ द ओप्प्रेस्सेड,* न्यू यॉर्क, कोन्टीनूम. 70-73.

फ्रेरे, पी. (1988) 'द एडल्ट लिटरेसी प्रोसेस एज कल्चरल एक्शन फॉर फ्रीडम एंड एजुकेशन एंड कंसेन्तिज़काओ', इन *पर्सपेक्टिव्स ऑन लिटरेसी,* (एडिशन) यूगेन आर. किन्तगें, बैरी, एम. करोल एंड माइक रोज, 398-409. कार्बोन्दले, आईएल : साउथर्न इल्लिओंस यूनिवर्सिटी प्रेस.

फ्रेरे, पी. (1997) 'टीचर एज कल्चरल वर्कर्स : लेटर्स टू दोज हु डेयर टू टीच द एज', *क्रिटिकल स्टडीज इन एजुकेशनल थ्योरी,* बोल्डर, वेस्ट व्यू प्रेस.

महमौदी, ए., खोश्नूद, ए. एवं बबैई, ए. (2014) 'पाउलो फ्रेरेस क्रिटिकल पेडागोजी एंड इट्स इम्प्लिकेशन इन करिकुलम प्लानिंग', *जर्नल ऑफ एजुकेशन प्रैक्टिसेज,* 5(14), 86-92.

मेड्रान, आर. एवं जोप्लिंग, जे. (2005) *ज्ञान डेमोक्रेसी : रिडीफाइन ग्लोबलाइजेशन एंड पीपल-पॉवर,* रीट्राइव्ड फ्रॉम 02 मई, 2021, 20:42 https://www.gaiandemocracy.net/GD_SITE_INGREDIENT_PAULO_FREIRE.html

मेयो, पी. (1999) *ग्राम्स्की, फ्रेरे एंड एडल्ट एजुकेशन : पोस्सिबिलिटिज फॉर ट्रांसफोरमेटिव एक्शन,* लन्दन : जेड बुक्स.

मैक्लारेन, पी. (2000) *ची गुएवारा, पाउलो फ्रेरे एंड द पेडागोजी ऑफ रिवोलुशन.* ऑससफोर्ड प्रेस.

मैक्लारेन, पी. (2010) 'क्रिटिकल पेडागोजी', *टीचिंग एजुकेशन,* 9(1), 1.

रुगुत, इ.जे. एवं ओसमान, ए.ए. (2013) 'रिफ्लेक्शन ऑन पाउलो फ्रेरे एंड क्लासरूम रेलीवेंस', *अमेरिकन इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशल साइंस,* 2(2), 23-28.

हुक्स, बी. (1994) *टीचिंग टू ट्रांसग्रेस,* न्यू यॉर्क : रूटलेज.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 65-75)

आर्थिक नीतियाँ और किसान ऋणग्रस्तता

मुकेश कुमार मीना*, तापस कुमार दलपति† एवं विनोद सेन‡

भारतीय कृषि रोजगार, आय, खाद्यान्न सुरक्षा इत्यादि विभिन्न आधारों पर भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल आधार है, आजादी के बाद योजनागत काल में सरकार ने कृषि क्षेत्र के माध्यम से सरकार विभिन्न आर्थिक और सामाजिक लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास किया है, जो परस्पर विरोधाभास से युक्त रहे हैं। कृषि क्षेत्र को देश की बढ़ती शहरी जनसंख्या के लिए खाद्यान्न और औद्योगिक विकास के लिए कच्चा माल पूर्तिकर्ता के रूप में प्रयोग करना तथा कृषि क्षेत्र को लाभदायक व्यवसाय बनाना; ये दोनों लक्ष्य एक साथ प्राप्त करना तकनीकी रूप से सम्भव नहीं हो सका। विभिन्न प्रयासों के माध्यम से सरकार ने कृषि उत्पादन और उत्पादकता को बढ़ाने के लगातार प्रयास किये हैं, लेकिन इससे कृषि क्षेत्र में संलग्न ग्रामीण किसान की लाभदायकता में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। इन सब प्रयासों के बावजूद भी कृषि क्षेत्र में संलग्न ग्रामीण किसान परिवारों की आय निम्न स्तर पर पहुँच चुकी है। किसान ऋणग्रस्तता भारतीय कृषि क्षेत्र की इस जटिल नीतिगत संरचना का ही एक उत्पाद है। भारतीय कृषि व्यवस्था में किसान ऋणग्रस्तता की स्थिति के लिए बड़े स्तर पर सरकार की कृषि वस्तुओं की कीमत, संग्रहण वितरण, कर, ऋण और बीमा इत्यादि, विभिन्न नीतियाँ जिम्मेदार हैं। ये

*सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)
E-mail: mukeshramjas1@gmail,com
†सहायक प्राध्यापक, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (मध्यप्रदेश)
E-mail: tapas273@gmail.com
‡सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजाति विश्वविद्यालय,अमरकंटक, (मध्यप्रदेश)
E-mail: senvinod79@gmail.com

नीतियाँ समग्र रूप से ऐसे ढाँचे का निर्माण करती हैं, जिसके माध्यम से कृषि में निम्न लाभदायकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है; जिसका दीर्घकालीन परिणाम ऋणग्रस्तता है। कृषि क्षेत्र में ऋणग्रस्तता की स्थिति के कारण किसान और ग्रामीण समाज में गरीबी, बन्धुआ मजदूरी, छोटी जोतों, कुपोषण, बाल श्रम, सामाजिक अपराध इत्यादि, विभिन्न समस्याएँ सामने आती हैं। कृषि व्यवस्था की इन स्थितियों को किसी एक नीति में परिवर्तन के माध्यम से बदला नहीं जा सकता है, विभिन्न मौद्रिक और राजकोषीय नीतियों में संरचनात्मक परिवर्तन करके ही कृषि को लाभदायक बनाया जा सकता है और किसान की ऋणग्रस्तता की स्थिति को नियन्त्रित किया जा सकता है।

किसान अन्नदाता के रूप में सम्पूर्ण भारत वर्ष की खाद्यान्न की पूति करता है, साथ ही विकास पुरुष के रूप में उद्योगों को कच्चा माल प्रदान करता है और सबसे बड़े ग्राहक समूह के रूप में बाजार में माँग उत्पन्न करता है। इस प्रकार कई मायनों में किसान भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था की धुरी है, इस प्रकार किसान अर्थव्यवस्था के अधिकांश क्षेत्रों पर अग्रगामी और पश्च प्रभाव उत्पन्न करता है।

उदारीकरण और औद्योगीकरण के बाद कृषि की उपेक्षा का दुष्परिणाम महँगे खाद्यान्न के रुप में सामने आया (सेठी, 2019)। भारत विश्व में खाद्यान्न उत्पादन और कुल जनसंख्या के अनुसार दूसरे स्थान पर है, अपनी जनसंख्या के लिए विकास के साथ-साथ खाद्य सुरक्षा उपलब्ध करवाना सरकार का संवैधानिक दायित्व है, क्योंकि 2013 में संसद द्वारा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम पारित किया जा चुका है। इस अधिनियम में लक्षित सार्वजनिक प्रणाली के माध्यम से लगभग दो-तिहाई जनसंख्या को खाद्यान्न उत्पन्न करवाने का लक्ष्य है, जो वर्तमान उदारीकरण के बाद के दौर में बाजार में उपलब्ध महँगा खाद्यान्न भारत की निम्न आय वर्ग की जनता की पहुँच से बाहर होता जा रहा है, अर्थात् बाजार के माध्यम से खाद्य सुरक्षा की स्थिति प्राप्त करना, भारत जैसे विकासशील देश के लिए कठिन होता जा रहा है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सरकार सस्ते खाद्यान्न की नीति पर चलती है, लेकिन द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र को विकास में प्राथमिकता और सस्ते अनाज की खाद्यान्न नीति कृषि क्षेत्र के विकास के प्रतिकूल सिद्ध हुई है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि खाद्य सुरक्षा और उद्योगों के विकास की नीति, कृषि लाभदायकता पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। कृषि में सुधारों के अभाव में लाभप्रदता की कमी, संस्थागत वित्तीय स्रोत की अनुपलब्धता और आय की अनिश्चितता के कारण कृषकों में ऋणग्रस्तता एक सामान्य समस्या बन गयी है। मौसम के प्रतिकूल प्रभाव, कृषि योग्य भूमि का सीमान्त होना, उन्नत तकनीक का अभाव, लागत में वृद्धि, बटाईदारी जैसी प्रथा, चल-अचल पूंजी के लिए उच्च ब्याज दर, किसानों की अज्ञानता, असिंचित कृषि इत्यादि विभिन्न कारणों से किसानों को कृषि से लाभ कम होता जा रहा है। इनमें सबसे प्रमुख कारण वर्तमान बाजार अर्थव्यवस्था के दौर में किसानों का परम्परागत खेती पर निर्भर रहना है (चोयल और जाखड, 2017)। एनएसएसओ के 59वें चक्र के अनुसार 48.6 प्रतिशत कृषक ऋणग्रस्त हैं। वर्तमान समय में हर दूसरा कृषक ऋणग्रस्त है। सरकार की कृषि कीमत नीति, कृषि के अनुकूल कृषि बीमा नीति का अभाव, उच्च लागत

कृषि ऋण नीति इत्यादि का सीधा प्रभाव कृषि की लाभदायकता पर पड़ता है, इनका परिणाम छोटे स्तर के किसानों की ऋणग्रस्तता के रूप में सामने आता है। कृषि वस्तुओं की कीमत नीति किसानों को न्यूनतम लाभ सुनिश्चित नहीं करती है, कृषि ऋण उद्योग और अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक कठोर है, कृषि बीमा किसानों के हितों की क्षतिपूर्ति करने और आय की अनिश्चितता को समाप्त करने में असमर्थ है; ये सब कारक मिलकर कृषकों को ऋणग्रस्त बनाते हैं, इसके परिणामस्वरूप किसानों में आत्महत्या की घटनाएँ भी सामने आ रही हैं।

किसानों में ऋणग्रस्तता छोटे और मध्यम जोत वाले किसानों में अधिक पायी जाती है। जोत के आकार की दृष्टि से देखें तो भारत में छोटे और माध्यम किसान अन्य देशों की तुलना में अधिक हैं। जोत का आकार छोटा होने के कारण बड़े पैमाने पर लाभ से वंचित रह जाते हैं; जिससे खेती में आधुनिक तरीकों के लिए आवश्यक न्यूनतम स्तर की जोत के अभाव के कारण खेती की लाभदायकता का स्तर गिर जाता है।

तालिका 1

कृषि जोतों का आकार एवं कृषक (हजार में)

देश (जनगणना वर्ष)	जोत का आकर			
	1 हेक्टेयर से कम	1-2 हेक्टेयर	2-5 हेक्टेयर	5-10 हेक्टेयर
अमेरिका (2002)	-	-	229	212
चीन (1997)	179897	9497	3353	313
भारत (2010-11)	92826	24779	13896	5875

स्रोत : लेखी, आर.के. एवं जोगिन्दर सिंह, 2015

भारत सरकार ने वर्ष 2015-16 की कृषि जनगणना रिपोर्ट जारी की जिसमें खेती के रकबे में वर्ष 2010-11 की तुलना में 1.53 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गयी है। इस गणना के प्रारम्भिक आँकड़ों के अनुसार, देश में खेती का रकबा 15 करोड़ 71.4 लाख हेक्टेयर है। इस दौरान कृषि में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है। प्रारम्भिक आँकड़ों के अनुसार 2015-16 में कृषि जोत का औसत आकार घटकर 1.08 हेक्टेयर रह गया। 2010-11 में यह 1.15 हेक्टेयर था (इकोनॉमिक टाइम्स, 2018)। आज छोटे और मँझले किसान कृषि कार्य को निरन्तर जारी रखने में असमर्थ हो रहे हैं। अगर उन्हें कोई अन्य रोजगार का साधन प्राप्त होता है, तो वे कृषि का त्याग करने के लिए भी तैयार हैं, अर्थात् कृषकों का कृषि से अन्य क्षेत्रों की ओर पलायन बढ़ गया है। 2001 की जनगणना के अनुसार प्रतिदिन 2000 किसान खेती छोड़ रहे हैं। जो किसान शहर के पास हैं वो अपनी खेती बेचकर शहर में व्यवसाय करना कहते हैं।

निम्न कृषि उत्पादकता

कृषि उत्पादन न केवल कृषि भूमि के आकार पर निर्भर करता है, बल्कि ये भूमि की उत्पादकता पर भी निर्भर करता है। कृषि उत्पादकता में वृद्धि का मुख्य उद्देश्य गरीबों को खाद्य

सुरक्षा प्रदान करना है। कृषि उत्पादकता में वृद्धि का एक अन्य उद्देश्य बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य माँग की पूर्ति करना भी है। औसत रूप से कृषि उत्पादकता में तीन प्रतिशत की वृद्धि 1950-51 से 2006-07 के मध्य हुई है। बढ़ती हुई जनसंख्या और अन्य देशों की कृषि उत्पादकता को देखते हुए इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है।

निम्न कृषि उत्पादकता के प्रमुख कारण हैं - कृषि में निम्न निवेश और सरकारी सहायता की कमी, जलवायु परिवर्तन, आगतों की लागत में वृद्धि के कारण परम्परागत तकनीकी का प्रयोग, मानसून पर निर्भरता, जोत के आकार का छोटा होना, मशीनीकरण का अभाव, प्रति हेक्टेयर कम उत्पादन, पूँजी की कमी, संसाधनों के सम्पूर्ण उपयोग का अभाव इत्यादि। कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए आज आधुनिक कृषि अर्थात् स्मार्ट कृषि की जरूरत है। भारत के विकसित राज्य स्मार्ट कृषि को अपना रहे हैं, जो किसानों को लाभ पहुँचा रही है। वैश्विक स्मार्ट खेती बाजार 2020 तक 164 लाख करोड़ रुपये के आँकड़े तक पहुँचने की सम्भवना व्यक्त की गयी है (साहू एवं महाजन, 2021)।

कुल उत्पादन के स्तर में स्थिरता

भारत का कृषि उत्पादन पिछले कुछ वर्षो में 285 मिलियन टन के आस-पास केन्द्रित है, उत्पादकता के स्तर में वृद्धि के अभाव और कृषि भूमि की सीमितता के कारण कृषि उत्पादन अब एक निश्चित स्तर पर आकर स्थिर हो गया है।

तालिका 2

भारत में खाद्यान्न उत्पादन (मिलियन टन)

वर्ष	खाद्यान्न उत्पादन (मिलियन टन)
2015-16	252
2016-17	275
2017-18	285
2018-19	283
2019-20	---

स्रोत : आर्थिक सर्वे - 2018-19

भारतीय कृषि का निम्न प्रदर्शन

कुल उत्पादन में वृद्धि को कृषि क्षेत्र के विकास में वृद्धि के रूप में देखा जा सकता है; लेकिन उत्पादन के समानुपातिक रूप से आय में परिवर्तन होने में कई समस्याएँ हैं तालिका 3 में भारत में कृषि क्षेत्र की निम्न विकास दर से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय की औसत वृद्धि अत्यन्त निम्न है।

तालिका 3

कृषि विकास दर (प्रतिशत में)

समय	कृषि विकास दर (प्रतिशत में)
1950-51 से 1964-65	2.51
1967-68 से 1980-81	2.20
1980-81 से 1990-91	3.07
1992-93 से 2004-05	2.76
1997-98 से 2004-05	1.60
2004-05 से 2010-11	3.47

स्रोत : आर्थिक सर्वे - 2018-19

कृषि की इस स्थिति से किसानों में ऋणग्रस्तता बढ़ना स्वभाविक है क्योंकि कृषि पर निर्भर जनसंख्या का आकार निरन्तर बढ़ रहा है लेकिन उस अनुपात में कृषि क्षेत्र के योगदान में वृद्धि नहीं हो रही है। कृषि के योगदान में आनुपातिक रूप से कमी किसानों के लिए प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न करती है जो ऋणग्रस्तता के रूप में सामने आती है।

कृषकों की ऋणग्रस्तता के कारणों की पहचान

लिंडा डार्लिंग का यह कथन एकदम सही है कि "भारतीय किसान ऋण में पैदा होता है, ऋण में जिन्दा रहता है और ऋण में ही मर जाता है"।

तालिका 4

भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता की सीमा

आकलनकर्ता	वर्ष	ऋण (करोड़ में)
मेक्लागन	1911	300
एम.एल. डार्लिंग	1925	600
सेंट्रल बैंकिंग इन्क्वारी कमिटी	1931	990
पी.जे. थॉमस	1933	2200
आर.के. मुखर्जी	1935	1200
भारतीय रिजर्व बैंक	1937	1800
एन.एस. नायडू	1938	1100
मेनोन	1928	1800
आल इंडिया क्रेडिट सर्वे समिति	1951-52	750
नेशनल इनकम समिति	1954	913
एस. थिरुमलाई	1956	1800
मिनिस्ट्री ऑफ फाइनेंस	1962	2762
आल इंडिया रूरल क्रेडिट एंड इन्वेस्टमेंट सर्वे	1972	4000
रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट	1981	6193

स्रोत : नताशा क्वाति : Problem of Rural Indebtedness in India

आर्थिक उदारीकरण से पहले के दौर में भी ग्रामीण ऋणगृस्तता में वृद्धि हुई है। ग्रामीण साख सर्वे रिपोर्ट के अनुसार 1961 से 1981 के मध्य ग्रामीण ऋण में तेजी से वृद्धि हुई और ग्रामीण ऋण 1954 करोड़ रुपये से बढ़कर 6193 करोड़ रुपये हो गया। दूसरे शब्दों में ग्रामीण ऋणग्रस्तता 1961-1971 के बीच 97 प्रतिशत बढ़ी और 1971-1981 के बीच 60 प्रतिशत बढी। 1971 में ग्रामीण ऋणग्रस्तता प्रति व्यक्ति 503 रुपये थी जो 1981 में बढ़कर 661 रुपये प्रति व्यक्ति हो गयी, अर्थात् 31 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

आर्थिक उदारीकरण के बाद की स्थिति को एनएसएसओ की 2003 की किसान ऋणग्रस्तता अध्ययन से समझा जा सकता है एनएसएसओ के अनुसार 48 प्रतिशत ग्रामीण परिवार ऋणग्रस्त हैं, इनमें से 61 प्रतिशत की जोत का आकार एक हेक्टेयर से कम है, इनके द्वारा लिये गये ऋण का 41.6 प्रतिशत कृषि के अतिरिक्त गतिविधियों के लिए लिया गया। 30.6 प्रतिशत ऋण पूंजीगत उद्देश्यों के लिए लिया गया और शेष 27.8 प्रतिशत कृषि गतिविधियों के लिए लिया गया। कुल ऋण में संस्थागत ऋण का हिस्सा 57.7 प्रतिशत था और शेष ऋण का स्रोत देशी बैंकर, जिसमें साहूकार, रिश्तेदार और मित्र थे। विशेषज्ञ समूह का अनुमान था कि गैर संस्थागत 48,000 करोड़ में से 18,000 करोड़ ऋण 30 प्रतिशत प्रति वर्ष के ब्याज पर लिया गया था (एनएसएसओ, 2003)। ये स्थितियाँ भारत के किसान की ऋणग्रस्तता के उदारीकरण से पूर्व तथा पश्चात् की स्थिति का वर्णन करती है, इनके कारणों की पड़ताल करके किसान ऋणग्रस्तता के मूल कारणों तक पहुँचा जा सकता है। किसान ऋणग्रस्तता के कारण और कृषि की कम लाभदायकता के कारण लगभग समान हैं, जिनका विश्लेषण निम्नानुसार है -

1. कृषि के मशीनीकरण से कृषि लागतों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। कृषि की आगतों, जिसमें खाद, बीज, कीटनाशक, कृषि उपकरण, ब्याज, यातायात, बिजली, पानी इत्यादि सम्मिलित हैं, जो उद्योगों द्वारा निर्मित हैं, जिनकी ऊँची लाभदायकता का स्तर कृषि की लाभदायकता को कम करता है, जिससे कृषि क्षेत्र पर अतिरिक्त भार पड़ता है। साथ ही कृषि के नाम पर सब्सिडी, आगत की सहायता, साख सहायता, और अन्य योजनाएँ व्यापारियों, दलालों और एजेंटो के माध्यम से दिये जाते हैं, सीधे किसान के पास नहीं जाते हैं। जिससे ये बिचौलिये अपने कमीशन या लागत को कृषि में दी गयी सहायता में सम्मिलित कर देते हैं, जो ऋण या सहायता की कीमत को बढ़ा देते हैं, इससे कृषि पर अतिरिक्त भार पड़ता है।
2. किसानों द्वारा थोक मूल्य पर फसल बेची जाती है और उपभोक्ता द्वारा खुदरा मूल्य पर खरीदी जाती है, जिसका अन्तर बहुत अधिक है। थोक मूल्य और खुदरा मूल्य में अन्तर का लाभ बिचौलिया उठाता है, न कि किसान। सरकारी स्तर पर अभी तक मंडी सुधार सही तरीके से क्रियान्वित नहीं किये गये हैं।
3. कृषि में अनिश्चितताओं के बावजूद अभी तक कृषकों को होने वाले नुकसान के बीमे के लिए उचित तन्त्र तैयार नहीं किया गया है, अर्थात् कृषि क्षेत्र में आज तक

सही तरीके से बीमा व्यवस्था स्थापित नहीं की गयी है। आज तक किसान को हानि होने पर उन्हें पूरा मुआवजा दिये जाने का तन्त्र विकसित नहीं हो पाया है और अगर सही तरीके से देखा जाए तो इसके लिए वे क्षेत्र भी जिम्मेदार हैं जो कृषि के कम मूल्य पर लाभ कमा रहे हैं। बीमा कम्पनियाँ कृषक से फसल बीमा की किश्त लेकर, मुआवजे के कठिन मापदंड बनाकर मोटा लाभ कमा रही हैं।

4. कृषि और अन्य क्षेत्रों के मध्य 'टर्म ऑफ ट्रेड' का कृषि के प्रतिकूल होना : भारत में विकास की रणनीति के तहत कृषि उत्पादनों का मूल्य नियन्त्रित रखा गया है, जिससे किसानों की आय कम हुई है और किसानों का आर्थिक लाभ कम हुआ है। कुछ परिस्थितियों में तो किसान ऋणग्रस्तता की स्थिति में पहुँच गया है। कृषि के उत्पादों के कम मूल्य के कारण दूसरे क्षेत्रों को सस्ता माल मिलता है, जिससे उनकी लाभदायकता बढ़ी है। अत: आज कृषि लाभ का सौदा नहीं रही है। सामान्य किसान कर्ज के बोझ में दब गया है।

5. कृषि में उपयुक्त न्यूनतम समर्थन मूल्य का अभाव : कृषकों के उत्पाद को लाभदायक मूल्य प्रदान करने के लिए बनी स्वामीनाथन कमेटी की सिफारिशों को अभी तक लागू नहीं किया गया है। स्वामीनाथन का C2+50 प्रतिशत का फार्मूला अभी तक लागू नहीं हो पाया है। न्यूनतम समर्थन मूल्य में जमीन के किराये और पूंजी पर ब्याज को सम्मिलित नहीं किया गया है।

6. कृषि में लगे साधनों को कानूनी प्रावधानों से उनके अवसर लागत से वंचित करना : कृषि की जमीन को अन्य 'हाई कन्वर्जन चार्ज' के माध्यम से आर्थिक क्षेत्रों में प्रयोग से रोका जाता है, जिससे जमीन का आर्थिक मूल्य कम बना रहता है। ये आर्थिक मूल्य को कृषि में लगाने की एक अवसर लागत होती है, लेकिन इस अवसर लागत या उसके ब्याज को किसी भी रूप में कृषि के मूल्य से सम्बद्ध नहीं किया जाता है। जबकि उद्योगों के विकास के लिए सरकारें जमीन अधिगृहीत कर उद्योगपतियों को नगण्य लागत पर देती हैं, जो एक तरह की रियायत (सब्सिडी) है, जिससे उनकी लाभदायकता में वृद्धि होती है।

7. कृषि में उपयुक्त ऋण नीति का अभाव : कृषि में दिये जाने वाले ऋण की शर्तें प्रतिकूल हैं, किसी भी उद्योग में कम्पनी बनाकर ऋण लिया जाता है; इस कारण ऋण केवल कम्पनी की ही सम्पत्ति से वसूला जा सकता है, कम्पनी चलाने वाले की व्यक्तिगत सम्पत्ति से नहीं वसूला जाता है। जबकि कृषि को इस तरह की सुविधा प्राप्त नहीं है, यहाँ ऋण व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति से वसूला जाता है। अर्थात् कृषि को अभी तक उद्योग का दर्जा नहीं मिल सका है, इसलिये ऋण से मिलने वाली सुविधाएँ कृषि क्षेत्र में नहीं हैं। कीमतों में उतार-चढाव से कृषक की सम्पत्ति अर्थात् आय के स्रोत ही समाप्त हो जाते हैं। इसके साथ ही उद्योगों को मिलने वाले ऋण की मार्जिन मनी बहुत कम होती है और ऋण को चुकाने की अवधि बहुत बड़ी

या पर्याप्त होती है। एक कम्पनी को कई बार ऋण चुकाने में असफल रहने पर भी, भविष्य में चुकाने की स्थिति में आने की सम्भावना को ध्यान में रखकर पुन: ऋण भी दिये जाते हैं। इसके साथ ही उद्योग के उत्पादन करने वाले संसाधनों को जब्त कर कभी भी उत्पादन क्षमता को नुकसान नहीं पहुँचाया जाता है। लेकिन कृषि में किसान की सम्पति को नीलाम कर ऋण वसूल किया जाता है, जिससे कृषक के पास कोई उत्पादन क्षमता और आजीविका का साधन नहीं बचता है। इसे किसी भी दृष्टि से तार्किक नहीं कहा जा सकता है।

8. कृषि वस्तुओं के आयात-निर्यात की नीति : सरकार के द्वारा मूल्य नियन्त्रण के लिए किया जाने वाला आयात-निर्यात और उसका देशी बाजार में उतरना, इसे समय पर किया जाता है जिससे किसान को मूल्य वृद्धि का लाभ नहीं मिल पाता है, जिससे किसान को फसल का उपयुक्त मूल्य नहीं मिल पाता है।

9. सरकारी कर नीति : सरकार द्वारा भले ही कृषि करमुक्त हो लेकिन अप्रत्यक्ष करों का अन्तिम भार का स्रोत कृषि ही है। सरकार द्वारा आगतों पर लगाया अप्रत्यक्ष कर का भार अन्तिम रूप से कृषि पर ही पड़ता है।

इस प्रकार ये समष्टि आर्थिक नीतिगत कारण हैं जो समष्टिक रूप से कृषि की कम लाभदायकता को सुनिश्चित करते हैं, जिसका दीर्घकालिक परिणाम कृषि ऋणग्रस्तता के रूप में सामने आता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यष्टिक कारक भी किसान की ऋणग्रस्तता को निर्धारित करते हैं, जैसे - अनुत्पादक सामाजिक व्यय, पुराने ऋण, पूंजीगत साधनों का अभाव, शिक्षा का अभाव, वित्तीय नियोजन का अभाव, पारिवारिक आपदाएँ, बीमारियाँ, इत्यादि। लेकिन समष्टिगत आर्थिक कारक ऐसे ढाँचे का निर्माण करते हैं जो कृषि को कम लाभदायक बनाता है, जिससे कृषि उत्पादन में वृद्धि होने के वावजूद भी कृषि अलाभकारी बनी रहती है, जिससे कृषकों में ऋणग्रस्तता की स्थिति उत्पन होती है।

किसानों की ऋणग्रस्तता का प्रभाव

कृषि ऋणग्रस्तता का प्रभाव ग्रामीण क्षेत्र में उपभोग की इकाई अर्थात् पूरे परिवार पर पड़ता है, यह किसानों के परिवारों की सामाजिक स्थिति में गिरावट के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है, किसान आत्महत्या इसका एक चरम रूप है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण जीवनस्तर में गिरावट, गरीबी दर में वृद्धि, बन्धुआ मजदूरी, जमीन के मालिकाना हक में परिवर्तन, बटाईगिरी करने वाले श्रमिक और अनुपस्थित मालिकों की संख्या में वृद्धि, सरकारी योजनाओं पर दबाव, विकास के मापदंडों में गिरावट इत्यादि विभिन्न परिणाम कृषि ऋणग्रस्तता के उत्पादों के रुप में सामने आते हैं।

किसानों की ऋण ग्रस्तता कम करने के उपाय

1. सभी अवसर लागतों और आर्थिक लागतों को सम्मिलित करके कृषि मूल्य को लाभदायक बनाया जाना चाहिए। यदि सरकार खाद्यान्न सुरक्षा के सामाजिक लक्ष्य और विकास के आर्थिक लक्ष्य दोनों प्राप्त करना चाहती है तो इसका भार अप्रत्यक्ष रूप से कृषकों पर न डाला जाए।
2. कृषि क्षेत्र में आगतों पर अप्रत्यक्ष कर की दरों में कमी करने की आवश्यकता है। कृषि आगतों, जैसे - खाद, बीज, कृषि उपकरण, शोध सेवा इत्यादि को शून्य वस्तु और सेवा कर (जीएसटी) के स्तर पर लाया जाए, साथ ही जीएसटी के दायरे से बाहर आने वाले कृषि आगतों, जैसे - पेट्रोल, डीजल, बिजली पर शून्य कर की नीति अपनायी जाए, अर्थात् सरकार को अप्रत्यक्ष करों की नीतियों में सुधार करने की आवश्यकता है।
3. कृषि उत्पादों के थोक मूल्य सूचकांक और उपभोक्ता मूल्य सूचकांक में अन्तर का लाभ जो केवल व्यापारियों और दलालों को जाता है, उसे कृषक को हस्तान्तरित करवाया जाए अर्थात् भावान्तर (दोनों मूल्यों में अन्तर) का 50 प्रतिशत सीधे कृषकों के खाते में हस्तान्तरित किया जाए, इस तरह की योजना का विस्तार राष्ट्रीय स्तर पर अधिक से अधिक फसलों के लिए किया जाए।
4. मंडी का संचालन गाँव के कृषक प्रतिनिधियों के माध्यम से संस्था बनाकर किया जाए। किसानों को सीधे फसल बेचने में आने वाली सभी बाधाओं को दूर किया जाए, किसी भी प्रकार के लिखित या टोकनवाद कर को तुरन्त हटाया जाए, जो कृषकों को दलालों और सरकारी कर्मचारियों के चंगुल में फँसाते हैं, अर्थात् सहकारी विक्रय व्यवस्था को अधिक से अधिक क्षेत्रों में लागू किया जाए।
5. सरकार केन्द्र और राज्य स्तर के बजट का पर्याप्त भाग गाँव-गाँव में कृषि वस्तुओं के सार्वजनिक संग्रहण और सामूहिक सुविधा केन्द्र बनाने में खर्च करे। सरकार को ग्रामीण स्तर पर मनरेगा जैसी योजनाओं से ग्रामीण क्षेत्रों में संग्रहण सुविधाओं का विस्तार करने की आवश्यकता है।
6. किसी भी स्थिति में कृषक की जमीन को कोई सरकारी अथवा निजी बैंक नीलाम नहीं करे। उसे कर चुकाने के लिए दीर्घकालीन ऋण और श्रम के अवसर भी दिये जाएँ, कृषि को आवश्यक सेवाओं का दर्जा दिया जाए, कृषकों को बाजार ऋण की जगह कम ब्याज के दीर्घकालीन और विभिन्न सेवा शुल्कों से मुक्त ऋण दिये जाएँ। किसी भी स्थिति में उद्योगों के नॉन-परफोर्मिंग असेट्स का भार किसानों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से नहीं डाला जाए।
7. कृषि वस्तुओं में वेल्यू एडेड स्थानीय स्तर पर करने के लिए पैकेजिंग की सुविधा और परिवहन के लिए सरकार व्यवस्था सरकार गाँवों तक उपलब्ध करवाए।

8. कृषि सम्बन्धी नीति के निर्धारण में व्यापारियों की निर्णायक भूमिका समाप्त हो, और एसोचेम और फिक्की की तर्ज पर किसानों की संस्था बनायी जाए जो वर्ष भर कृषकों के हितों का संरक्षण करे।

9. कृषि वस्तुओं और खाद्यान्न का संग्रहण और वितरण संस्थाओं, जैसे - भारतीय खाद्य निगम में कृषकों की भागीदारी हो और यह संस्था खाद्यान्न को उद्योगपतियों को बेचने की जगह कृषक के हितों को ध्यान में रखकर कार्य करे। इसमें कृषकों की पूरी भागीदारी हो और इसे भ्रष्टाचार से मुक्त रखने की सम्पूर्ण व्यवस्था हो अर्थात् इसमें सामाजिक अंकेक्षण की व्यवस्था की जाए।

10. कृषकों के लिए एक आपातकालीन कोष तैयार रखा जाए जो हर स्थिति में कृषकों को सहायता उपलब्ध करवाए और बैंकों या अन्य संस्थाओं के माध्यम से की जाने वाली नीलामी जैसी व्यवस्था पर कानूनी रोक लगाई जाए।

11. कृषकों को स्वास्थ्य बीमा उपलब्ध करवाया जाए और बीमा कम्पनी को न लाभ - न हानि (नो प्रॉफिट - नो लॉस) के सिद्धान्त से संचालित किया जाये न कि कृषकों से मोटा प्रीमियम वसूल कर कृषकों की आय को सर्कुलेशन से बाहर किया जाए। इसी प्रकार चिकित्सा सुविधाएँ गाँवों तक उपलब्ध करवायी जाएँ तथा कृषि कार्य में होने वाली किसी भी दुर्घटना या स्थायी अपंगता पर पर्याप्त मुआवजा और परिवार को रोजगार की व्यवस्था की जाए।

12. कृषकों को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य पर निर्यात करने की सुविधाएँ उपलब्ध करवाई जाएँ और यदि सरकार आवश्यक वस्तु अधिनियम और अन्य कानूनों के द्वारा कृषकों को घरेलू बाजार में कम कीमत रखकर कृषि वस्तु बेचने पर मजबूर करती है, तो कृषकों को होने वाले मूल्य का भुगतान करे। किसी प्रकार की प्रतिकूल सरकारी कीमत नीति या प्रतिकूल टर्म्स ऑफ ट्रेड का भार किसान पर चोरी-छिपे न डाला जाए।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कृषि उत्पादकता में वृद्धि, जोतों के आकार में सहकारी कृषि के माध्यम से सुधार, निम्न लागत तकनीकी का प्रयोग, विक्रय के तरीकों में सुधार, सरकारी नीति की प्रतिकूलता में सुधार, कृषि क्षेत्र में बैंकिंग और बीमा पॉलिसियों का विस्तार और इनकी सेवाओं में सुधार, स्मार्ट खेती, विदेशी आयात-निर्यात नीति में किसानों की भागीदारी, खाद्यान्न संग्रहण और वितरण नीति में सुधार, इत्यादि समग्र नीतियों में सुधार के माध्यम से कृषि में लाभदायकता बढ़ाकर किसान ऋणग्रस्तता की स्थिति में सुधार किया जा सकता है।

सन्दर्भ

एनएसएसओ (2003), स्टडी ऑन फार्मर्स इनडेब्टनेस 59 राउंड ऑफ सर्वेस (जनवरी-दिसम्बर, 2003)

सिंह, लखविन्दर, केसरसिंह भांगू एवं राकेश शर्मा (2019), *एग्रेरियन डिस्ट्रेस एंड फार्मर स्यूसाइड्स इन नॉर्थ इंडिया*, रूटलेज इंडिया.

आर्थिक सर्वेक्षण (2018-19), वित्त मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली.

इकोनॉमिक टाइम्स (2018), कृषि जनगणना के आँकड़े जारी, कृषि क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी, (https://navbharattimes.indiatimes.com/business/businessnews/ agriculture-census-data-released-womens-participation-in-agriculture-sector-increased/articleshow/66033923.cms).

चोयल, भानुप्रिया और बी.एल. जाखड, (2017), 'कृषि में सूचना प्रौधोगिकी का उपयोग', कृषि किरण, अंक-3, पृ. 11-14।

नताशा क्वाति, एसे ऑन प्रॉब्लम ऑफ रूरल इनडेब्टनेस इन इंडिया (https://www.economicsdiscussion.net/essays/essay-on-the-problem-of-rural-indebtedness-in-india/18110).

लेखी, आर.के. एवं जोगिन्दर सिंह (2015), एग्रीकल्चरल इकोनॉमिक्स : एन इंडियन पर्सपेक्टिव, कल्याणी पब्लिशर्स, लुधियाना, पंजाब.

साहू, खोमन लाल एवं अश्वनी महाजन (2021), आधुनिक कृषि व्यवस्था में किसानों का सामाजिक अध्ययन, इंट.जे.एड. सोशल साइंसेज, 9(1):45-50 (https://ijassonline.in/AbstractView.aspx?PID=2021-9-1-9).

सेठी, अर्चना (2019), भारतीय कृषि का विकास एवं शासकीय नीतियाँ, इंट.जे.रेव एंड रिस.सोशल साइ., 7(1):227-230 (https://ijrrssonline.in/Abstract View.aspx?PID=2019-7-1-42).

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 19, अंक 1, जून 2021, पृ. 76-80)

पुस्तक समीक्षा

ग्राम नियोजन

महीपाल

नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 2012, पृ. 254

करुणेन्द्र कुमार*

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ग्रामीण विकास के लिए अनेक सहकारी योजनाएँ संचालित की गयीं लेकिन असफल रहीं, जिनकी असफलता का कारण नियोजन का न होना था। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए उसके विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखकर नियोजन की आवश्यकता होती है ताकि वह कार्य सीमित समय और संसाधनों में सम्पन्न हो जाए। इसी सन्दर्भ में 'ग्राम नियोजन' शीर्षक से पुस्तक डॉ. महीपाल का सराहनीय प्रयास है जिसमें ग्रामीण विकास में नियोजन की भूमिका से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का उल्लेख किया गया है। गाँवों के विकास के बिना हम शिक्षित, समृद्ध और सशक्त राष्ट्र की कल्पना नहीं कर सकते, अत: हमें ग्रामीण विकास को प्राथमिकता देकर ही आगे बढ़ना होगा। पुस्तक मूल रूप से ग्रामीण विकास को प्राथमिकता देकर ही आगे बढ़ना होगा। पुस्तक मूल रूप से ग्रामीण विकास, प्रभावित करने वाले कारक तथा नियोजन की भूमिका को ध्यान में रखकर लिखी गयी है।

*शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन.
E-mail: karunv.phd@gmail.com

प्रथम अध्याय में लेखक ने आजादी से पूर्व ग्रामीण विकास के लिए संचालित की गयी विभिन्न योजनाओं की असफलता को उजागर किया है। वास्तव में कोई भी कार्य बिना नियोजन और भागीदारी के सफल नहीं हो सकता। सन 1951 में नियोजन का कार्य प्रारम्भ हुआ जिसका उद्देश्य जनता की भागीदारी से उसके जीवन स्तर में सुधार लाना था। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम की शुरूआत की गयी जिसमें स्थानीय नियोजन की आवश्यकता को ध्यान में रखकर नियोजन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई। बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिशों में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना तथा स्थानीय योजना निर्माण में जनभागीदारी की आवश्यकता को समझा गया ताकि तृणमूल स्तर पर विकेन्द्रीकरण की नींव रखी जा सके। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को स्वयंसेवी संगठनों तथा शिक्षण संस्थाओं के सहयोग से पंचायती राज के माध्यम से ही सुचारू रूप से संचालित किया जा सकता है (पृ. 13)। समग्र और समावेशी विकास की अवधारणा को तभी पूरा किया जा सकता है जब योजना के निर्माण, क्रियान्वयन तथा उनकी मॉनीटरिंग और सत्यापन में ऐच्छिक रूप से अधिक से अधिक नागरिकों की भागीदारी हो।

द्वितीय अध्याय में विकास के अर्थ तथा इसके विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गयी है। वास्तव में वर्तमान समय में विकास एक बहुआयामी अवधारणा बन गयी है, जिसमें मूलभूत उत्पादन में विस्तार और विकास के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, संचार, रोजगार, पानी, स्वच्छता आदि सुविधाओं को जन-जन तक पहुँचाकर जीवनस्तर में सुधार लाना है। अलग-अलग व्यक्तियों के लिए विकास के अर्थ भी अलग अलग हो सकते हैं, लेकिन वास्तव में विकास एक व्यापक अवधारणा है जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, रोजगार, यातायात तथा अन्य मूलभूत सुविधाएँ समाहित हैं।

विकास के सन्दर्भ में किसान, शिक्षक, मजदूर, सामाजिक कार्यकर्ता तथा डॉक्टर के विचार भिन्न-भिन्न हैं। इसका तात्पर्य है कि सही अर्थों में विकास तभी सम्भव है जब यह समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करें। नियोजन की प्रक्रिया में यदि कोई व्यक्ति बाहर छूट रहा है तो इसका मतलब है कि यह समग्र और समावेशी विकास नहीं है। यदि विकास की प्रक्रिया में स्थानीय लोगों की सहभागिता और सुविधाओं को नजर-अन्दाज किया जाता है तो वह कभी सफल नहीं हो सकता जिसका हमारे दैनिक, सांस्कृतिक और नैतिक जीवन पर गलत प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र की पहली इकाई गाँव यदि आत्मनिर्भर और विकसित है तो देश अपने आप विकसित और आत्मनिर्भर हो जायेगा। विकास के सम्बन्ध में गांधीजी की अवधारणा आज भी उतनी ही प्रासंगिक है - "ग्रामीण विकास का उद्देश्य लघु स्वतन्त्र और स्वावलम्बी ग्रामीण समाज को बनाना है, जो सादा जीवन उच्च विचार पर आधारित हो, जिससे जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति परस्पर सहयोग से हो जाती हो" (पृ. 24-25)।

नियोजन का अर्थ नियोजन की आवश्यकता ग्राम विकास के लिए बेहतर नियोजन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पहलुओं पर तृतीय अध्याय में चर्चा की गयी है। ग्राम नियोजन में प्राथमिकता के आधार पर ही वार्षिक, पंचवर्षीय और दीर्घकालिक योजनाओं का निर्माण करना चाहिए ताकि सतत विकास की प्रक्रिया जारी रह सके। किसी गाँव के विकास के लिए आवश्यक मूलभूत अवसंरचनात्मक विकास के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार को ध्यान में रखकर ब्लॉक और जिला पंचायत का समन्वय और मार्गदर्शन भी आवश्यक है। सहभागी नियोजन से योजना निर्माण, क्रियान्वयन और उसकी निगरानी, जन सहभागिता से समुदाय में सरकारी और सामाजिक सम्पत्ति की सुरक्षा और उसकी देखभाल की भावना विकसित होती है, जिससे मितव्ययता, क्षमतावृद्धि और सामुदायिक विकास की नयी पहल की शुरूआत होती है। ग्राम विकास की योजनाओं में जो लोग रुचि नहीं लेते थे, वे लोग रुचि लेना शुरू कर देते हैं। पंचायतों के माध्यम से ग्रामीणों में विभिन्न समस्याओं को समझने, सोचने और उनका उपाय ढूँढने की क्षमता का विकास हो जाता है (पृ. 43)।

पारदर्शिता, समयबद्धता और जवाबदेही किसी भी कार्य को सम्पादित करने के मुख्य पहलू हैं। ग्रामीण विकास के लिए ग्राम विकास के मुख्य पहलुओं से सम्बन्धित वर्णन अध्याय चार में किया गया है। जन सहभागिता से प्राथमिकताओं के आधार पर योजना निर्माण से उनके क्रियान्वयन में आसानी रहती है तथा निश्चित समय में ऐसी योजनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। नरेगा योजना के क्रियान्वयन में पंचायत के साथ-साथ जनसहभागिता से ही इसे प्रभावी बनाया जा सका है, जिसमें सामाजिक लेखा परीक्षा ने प्रभावी भूमिका निभाई है (पृ. 53-54)।

ग्रामीण विकास की योजनाओं एवं स्थानीय नियोजन को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए जनप्रतिनिधियों महिलाओं, युवाओं तथा छात्रों के लिए प्रशिक्षण की ग्राम पंचायत स्तर पर व्यवस्था करनी होगी।

कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति तक मूलभूत सुविधाओं की पहुँच से उसके जीवन को आसान बनाना है। अध्याय पाँच में विभिन्न योजनाओं के संचालन, उद्देश्य और उनकी स्थिति के सन्दर्भ में चर्चा की गयी है। अन्नपूर्णा योजना, राष्ट्रीय सामाजिक सहायता योजना तथा स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना का लाभ तृणमूल स्तर, गरीब और असहाय जीवन जी रहे लोगों के लिए उनके सबसे मूल अधिकार और आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। समावेशों और स्थायी ग्रामीण विकास में नरेगा योजना महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। योजना के क्रियान्वयन से सिंचाई के साधनों का विकास हुआ है तथा खेती की मेड़बन्दी से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप छोटे और सीमान्त किसानों को लाभ हुआ है। विकास की दर से पिछड़े क्षेत्रों में पिछड़ा क्षेत्र अनुदान निधि योजना के संचालन में पंचायती राज की भूमिका उल्लेखनीय है 'पिछडा क्षेत्र अनुदान निधि योजना' की पहल से क्षेत्रीय असन्तुलन दूर होंगे, गरीबी दूर करने में मदद मिलेगी और जवाबदेह तथा संवेदनशील पंचायतों तथा नगर पालिकाओं को बढ़ावा मिलेगा (पृ. 118)।

अध्याय छह में नरेगा योजना के संचालन में सफलता और गरीबी निवारण तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि आदि से सम्बन्धित वर्णन है। स्थानीय स्तर पर लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तथा विकास में नरेगा महत्वपूर्ण साबित हुई है। जनसहभागिता के कारण योजना से जल संरक्षण, जल संवर्धन तथा जल प्रबन्धन के कई कार्यों में सफलता मिली है। कई राज्यों में नरेगा योजना से कृषि उत्पादकता में वृद्धि तथा छोटे और सीमान्त किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। मध्यप्रदेश के धार जिले के जबधा गाँव में पहले साल में 275 परिवारों ने 100 दिन काम पूरा किया। सड़क निर्माण को प्राथमिकता देकर पाँच नयी सड़कों का निर्माण हुआ, फलस्वरूप आवागमन सरल हो गया (पृ. 128)।

योजना और वित्त एक दूसरे के पूरक हैं। किसी भी संस्था की योजनाएँ उसकी वित्तीय स्थिति पर निर्भर करती हैं। जिस पंचायत के पास जितने अधिक वित्तीय संसाधन होंगे वह अपना समग्र विकास उतने ही अच्छे ढँग से कर पाएगी। योजनाओं के निर्माण में वित्तीय संसाधन मानचित्र अहम् भूमिका निभाता है जिससे केन्द्र और राज्य सरकार की विभिन्न योजनाओं से प्राप्त होने वाली राशि का पता चल जाता है। पंचायतों का स्वयं का राजस्व उनके विकास हेतु योजना निर्माण में अहम् भूमिका निभाता है। वर्तमान में पंचायतें केन्द्र और राज्य सरकारों की विभिन्न योजनों और अपने स्वयं के प्राप्त संसाधनों को मिलाकर योजना बनाती हैं (पृष्ठ 147)।

नियोजन के कार्य में वास्तविक स्थिति को ध्यान में रखकर ही नयी योजनाओं का निर्माण हो तथा उनके निहित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समय-समय पर परीक्षण और मूल्यांकन की व्यवस्था भी होनी चाहिये। पुस्तक के अगले अध्याय में नियोजन हेतु त्रिस्तरीय सर्वेक्षण, परिकल्पना और योजना के प्रारूप से सम्बन्धित चर्चा की गयी है। आँकड़ा सार तैयार करना योजना निर्माण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, जिससे वास्तविक स्थिति का पता चलता है, सहभागी ग्रामीण अध्ययन इसकी उपयोगी विधा है। विभिन्न योजनाओं का प्रारूप तैयार करने में सामूहिक भागीदारी से वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति करना आसान हो जाता है। पंचायतों के बीच बेहतर समन्वय अति आवश्यक है ताकि ग्राम पंचायत स्तर की परियोजनाओं को शीघ्र लागू किया जा सके। पंचायतों की प्राथमिकता के आधार पर उन्हें वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना क्षेत्रीय विकास की योजनाओं को सफल बनाता है, केरल राज्य के प्रयोग से पता चलता है (पृ. 168-69)।

स्थानीय समस्याओं का निवारण पारस्परिक सहयोग और परामर्श द्वारा आसानी से किया जा सकता है। जिसके लिए ग्राम पंचायत, ब्लॉक पंचायत तथा जिला पंचायत का समन्वय नगरीय पंचायतों और नगर पालिकाओं से जरूरी है। विभिन्न योजनाओं की विकास में भूमिका तथा लक्ष्य निष्पादन की जाँच के लिए नियमित निरीक्षण व्यवस्था विकसित करने की आवश्यकता है। पंचायत के निम्न स्तर पर वित्त पोषण एक गम्भीर समस्या है, जिसके कारण योजनाएँ लम्बित पड़ी रहती हैं या देर से पूरी हो पाती हैं। इस समस्या को दूर करने के लिए पंचायत राज अधिकारियों तथा जनप्रतिनिधियों के बीच पारदर्शी, जवाबदेह तथा

समयबद्ध व्यवस्था विकसित करने की आवश्यकता है जो वास्तविक सहभागिता से ही विकसित हो सकती है।

ग्रामीण विकास में पंचायती राज और अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है, जिसके लिए अधिक दक्षता के साथ सामाजिक सहभागिता को प्रभावी तथा वित्तीय विवरण को पारदर्शी बनाना होगा। नियमित सामाजिक लेखा परीक्षा तथा सूचना के अधिकार के माध्यम से एक समयबद्ध, पारदर्शी तथा जवाबदेह विकास मॉडल को विकसित करने की आवश्यकता है, जो पंचायती राज व्यवस्था को अधिक सशक्त बनायेगा।

प्रस्तुत पुस्तक ग्रामीण विकास और उसके नियोजन के प्रत्येक पक्ष का वर्णन करती है। ग्रामीण विकास से जुड़े अन्य साहित्य को ध्यान में रखकर यदि विश्लेषण किया जाये तो डॉ. महीपाल का कार्य निश्चित रूप से अग्रणी श्रेणी में रखा जा सकता है। पुस्तक में पंचायत के विकास कार्यों के लिए योजना निर्माण तथा नियोजन के सभी पहलुओं पर विस्तार से चर्चा की गयी है विषय सामग्री रुचिकर एवं प्रस्तुति भी सरल और सराहनीय है। पुस्तक के माध्यम से लेखक ने पाठकों की रुचि, ग्रामीण विकास की मूलभूत अवधारणा और उद्देश्यों को अपने विचार द्वारा पाठकों तक पहुँचाने का कार्य बड़ी सुगमता से किया है। पुस्तक अपने तरह की श्रेष्ठ पुस्तक है जो विषय से जुड़े लोगों के लिए भविष्य में भी लाभकारी सिद्ध होगी।

लेखकों के लिए अनुदेश

मध्य प्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल में समाज विज्ञान से सम्बन्धित सैद्धान्तिक आलेख, अनुभवजन्य शोध आधारित आलेख, टिप्पणियाँ और पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित की जाएँगी। लेखकों से निवेदन है कि अपनी रचनाएँ प्रकाशन हेतु प्रेषित करते समय निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखें -

- कृपया अपनी रचना को यूनीकोड फॉन्ट में टंकित कर एमएस-वर्ड फाइल में mailboxmpissr@gmail.com पर ई-मेल के माध्यम से प्रेषित करें। शोध आलेख की शब्द सीमा 3000 से 5000 के बीच होना चाहिए। शोध आलेख के साथ 100-150 शब्दों में शोध आलेख का सारांश भी अनिवार्य है।
- विशेष परिमाण संख्या जैसे 2 प्रतिशत या 5 किलोमीटर को सूचित करने के अतिरिक्त इकाई अंकों (1-9) को शब्दों में ही लिखें जबकि दहाई एवं उससे अधिक की संख्या को अंकों में लिखें।
- किसी भी वर्तनी के लिए एकरूपता महत्वपूर्ण होती है। सम्पूर्ण रचना में एक ही शब्द को विभिन्न प्रकार से नहीं लिखा जाना चाहिए। इसमें प्रचलन और तकनीकी सुविधा का ध्यान रखा जाना चाहिए।
- रचना में उद्धृत वाक्यांशों को दोहरे उद्धरण चिह्न ("...") के मध्य दें। यदि उद्धृत अंश तीन वाक्यों से अधिक का हो तो उसे अलग पैरा में दें। उद्धृत अंश में लेखन की शैली और वर्तनी में कोई भी परिवर्तन अपनी ओर से न करें।
- सभी टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ शोध आलेख के अंत में दिये जाएँ तथा शोध आलेख में यथास्थान उनका आवश्यक रूप से उल्लेख करें। सन्दर्भ सूची में किसी भी सन्दर्भ का अनुवाद करके न लिखें। सन्दर्भों को उनकी मूल भाषा में ही रहने दें। यदि सन्दर्भ में हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा का मिश्रण हो तो सन्दर्भ को लिप्यान्तरित कर देवनागरी लिपि में ही लिखें।
- समसामयिक प्रासंगिकता, स्पष्ट एवं तार्किक विश्लेषण, सरल एवं बोधगम्य भाषा, उचित प्रविधि आदि शोध आलेख के प्रकाशन हेतु स्वीकृति के मानदण्ड होंगे। प्राप्त रचनाओं की समीक्षा प्रकाशन से पूर्व विषय विशेषज्ञों द्वारा की जाती है। यदि समीक्षक रचना में संशोधन हेतु अभिमत देते हैं तो रचनाकार को वांछित संशोधन करने होंगे। किसी भी शोध आलेख को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादक का होगा।
- पत्र व्यवहार का पता : सम्पादक, मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, 6, प्रो. रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 (म.प्र.)।

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली तथा उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन द्वारा स्थापित स्वायत्त शोध संस्थान है। कार्य एवं स्वरूप की दृष्टि से मध्यप्रदेश में यह अपनी तरह का एकमात्र शोध संस्थान है। समाज विज्ञानों में समकालीन अन्तरशास्त्रीय संदृष्टि को बढ़ावा देते हुए मध्यप्रदेश में समाज विज्ञान मनीषा का सशक्त संवाहक बनना संस्थान का मूल उद्देश्य है।

अपनी संस्थापना से ही यह संस्थान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक एवं विकास की विभिन्न समस्याओं, मुद्दों और प्रक्रिया ओं पर अन्तरशास्त्रीय शोध को संचालित व प्रोत्साहित करते हुए सामाजिक, आर्थिक और नीतिगत महत्त्व की शोध परियोजनाओं को क्रियान्वित करता है।

संस्थान की शोध गतिविधियाँ मुख्यतः पंचायत राज एवं ग्रामीण विकास, लैंगिक अध्ययन, अनुसूचित जाति एवं जनजाति से सम्बन्धित मुद्दे, विकास एवं संस्थापन, पर्यावरण अध्ययन, सामाजिक न्याय, लोकतन्त्र एवं मानवाधिकार, सूचना तकनीकी तथा समाज, शिक्षा एवं बाल अधिकार एवं नवीन आर्थिक नीतियाँ आदि संकेन्द्रण क्षेत्रों पर केन्द्रित हैं।

परिसंवादों, संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों आदि अकादमिक अनुष्ठानों का आयोजन, समाज विज्ञानों में अनुसन्धानपरक नवोन्मेष एवं नवाचारों का प्रवर्तन, मन्त्रालयों एवं अन्य सामाजिक अभिकरणों को परामर्श एवं शोधपरक सहयोग प्रदान करना संस्थान की अन्य प्रमुख गतिविधियाँ हैं। संस्थान में एक संवर्द्धनशील पुस्तकालय एवं प्रलेखन केन्द्र है जिसमें समाज विज्ञानों पर पुस्तकें, शोध पत्रिकाएँ और प्रलेख उपलब्ध हैं।

संस्थान शोध कार्यों को अवसरिक पत्रों, विनिबन्धों, शोध-पत्रों एवं पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त दो षाण्मासिक शोध जर्नल - मध्यप्रदेश जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज़ (अँग्रेजी) एवं मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल (हिन्दी) का प्रकाशन भी संस्थान द्वारा किया जाता है।

भारत के समाचार पत्रों के पंजीयक के कार्यालय में
पं.क्र. MPHIN/2003/10172 द्वारा पंजीकृत

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान के लिए
डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया द्वारा
6, रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश) से
प्रकाशित एवं मुद्रित